संस्कृत वाग्योगों का विवेचनात्मक अध्ययन

वाग्योग IDIOM मुहावरा वाग्योग IDIOM मुहावरा वाग्योग IDIOM
मुहावरा वाग्योग IDIOM मुहावरा IDIOM मुहावरा IDIOM मुहावरा
मुहावरा IDIOM मुहावरा वाग्योग IDIOM मुहावरा IDIOM
वाग्योग मुहावरा वाग्योग मुहावरा वाग्योग मुहावरा वाग्योग
IDIOM वाग्योग IDIOM मुहावरा वाग्योग IDIOM मुहावरा
वाग्योग मुहावरा वाग्योग मुहावरा IDIOM वाग्योग IDIOM
वाग्योग IDIOM मुहावरा वाग्योग मुहावरा IDIOM
IDIOM मुहावरा वाग्योग IDIOM मुहावरा वाग्योग
मुहावरा IDIOM मुहावरा वाग्योग मुहावरा वाग्योग मुहावरा
वाग्योग मुहावरा वाग्योग मुहावरा वाग्योग IDIOM मुहावरा
वाग्योग मुहावरा IDIOM वाग्योग मुहावरा IDIOM वाग्योग
वाग्योग मुहावरा IDIOM मुहावरा वाग्योग IDIOM
मुहावरा वाग्योग मुहावरा वाग्योग IDIOM मुहावरा वाग्योग
वाग्योग मुहावरा वाग्योग मुहावरा वाग्योग IDIOM मुहावरा

डॉ॰ कर्ण सिंह

संस्कृत वाग्योगों का विवेचनात्मक अध्ययन
Critical Study of Sanskrit Idioms

(प्रथम खण्ड)

डॉ० कर्णसिंह

संस्कृत-मुहावरों पर शोधपरक ग्रन्थ

संस्कृत वाग्योगों का विवेचनात्मक अध्ययन

[प्रथम खण्ड]

CRITICAL STUDY of SANSKRIT IDIOMS

[First Part]

लेखक :

डॉ० कर्णसिंह

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

मेरठ कॉलिज, मेरठ

(उ० प्र०) भारत

प्रकाशक :

श्रीमती कृष्णा कर्णसिंह

चन्द्रिका, शिवाजी मार्ग,

मेरठ–२५०००१

फोन : ७२५००

● प्रकाशक :
श्रीमती कृष्णा कर्णसिंह
चन्द्रिका, शिवाजी मार्ग,
मेरठ–२५०००१ (उ० प्र०) भारत
दूरभाष : ७२५००

● प्रथम संस्करण : अप्रैल १९८९

● मूल्य : १२० रुपये मात्र ।

● वितरक :
इण्डोविज़न प्राइवेट लिमिटेट,
II ए–२२०, नेहरू नगर
गाजियाबाद (उ० प्र०) २०१००१

● मुद्रक :
साहित्यकार प्रेस, मेरठ ।

वाग्योग-विवेचनम्

सन् १९६५-६६ ई० में, पी-एच० डी० से सम्बन्धित शोधकार्य करते समय, पुस्तकालय में अन्य भाषाओं के मुहावरा-कोशों को देखकर सर्वप्रथम, यह विचार आया था कि संस्कृत में भी ऐसा कोई कोश होना चाहिए। पी-एच० डी० के शोध कार्य के उपरान्त, इस विषय पर पुनः विशेषतया विचार करना प्रारम्भ किया। समय-समय पर, अनेक विद्वानों से सम्पर्क हुआ और मैंने उनसे भी इस विषय की चर्चा की। कुछ विद्वानों से पत्र-व्यवहार भी हुआ ; किन्तु कोई विशेष दिशा-निर्देश नहीं मिल सका। हिन्दी में मुहावरों के कई कोश प्रकाशित हो चुके है, किन्तु उनमें भी मुहावरों से सम्बन्धित समीक्षात्मक सामग्री का अभाव होने के कारण उनसे भी कोई सहायिता नहीं मिल सकी।

संस्कृत में, इस प्रकार का शोधकार्य करने का आग्रह फिर भी निरन्तर बना रहा। मुहावरा और मुहावरा-जैसी सामग्री का संकलन भी मूल ग्रन्थों से निरन्तर होता रहा। इसी प्रयास में, डॉ० ओम्प्रकाश गुप्त लिखित 'मुहावरा-मीमांसा' ग्रन्थ उपलब्ध हुआ। हिन्दी में प्राप्त, अन्य ग्रन्थों से यह कुछ विशेष था। इसमें मुहावरों की मीमांसा की गयी है अर्थात् हिन्दी-मुहावरों के महत्त्व, लक्षण, उद्भव, वर्गीकरण आदि विषयों के साथ ही इसमें, संस्कृत में मुहावरों के होने की बात भी कही गयी है। इससे थोड़ा बल मिला और आशा बँधी कि इस दिशा में कुछ काय हो जाना असम्भव नहीं है।

'मुहावरा-मीमांसा' के अतिरिक्त, पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय' 'हरिऔध' की 'बोलचाल' इस विषय की महत्त्वपूर्ण कृति है, जिसकी भूमिका में 'मुहावरा' के लक्षण आदि पर विचार किया गया है। हरिऔध जी ने 'मुहावरा' को दो स्वरूपों वाला स्वीकार किया है:—एक 'बोलचाल' और दूसरा स्वयं 'मुहावरा'। इस बीच श्रद्धेय चारुदेवशास्त्री जी के दर्शनों का सौभाग्य भी मुझे मिल चुका था और उनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'वाग्व्यवहारादर्शः' भी मैं देख चुका था। मन ही मन, 'वाग्व्यवहारादर्शः' की विषय-सामग्री से अत्यधिक प्रभावित होकर भी उसे 'मुहावरों की सामग्री' मानने को मैं एकदम तैयार नहीं था। जब, हरिऔध जी की 'बोलचाल' से मैंने 'वाग्व्यवहारादर्शः की सामग्री की तुलना की तो मुझे तत्काल अनुभव हो गया कि 'हरिऔध' जी की 'बोलचाल' और आचार्य चारुदेवशास्त्री जी के 'वाग्व्यवहार' में पर्याप्त समानता है। किन्तु न तो 'बोलचाल' ही पूर्णतया मुहावरा है और न ही 'वाग्व्यवहार'। 'मुहावरा' वस्तुतः, इन दोनों से भिन्न है और वह वही है, जिसे हरिऔध जी ने स्वयं 'बोलचाल' से भिन्न बतलाया है। प्रयोग-बाहुल्य तक तो 'बोलचाल' और 'वाग्व्यवहार' मुहावरा हैं, किन्तु सांकेतिक अर्थ की विलक्षणता का गुण, जो 'मुहावरा' की विशेषता है, वह इनमें नहीं है।

इसी आधार पर मैं आगे विचार करता रहा, जब तक कि 'वाग्योग' शब्द पर मेरी दृष्टि नहीं गयी। 'वाग्योग' शब्द के मिलने पर 'बोलचाल' और 'मुहावरा' से समानता रखने वाले ही दो शब्द 'वाग्यवहार' और 'वाग्योग' मेरे पास भी हो गये। उधर 'बोलचाल' के लिए, चूँकि 'वाग्व्यवहार' शब्द उपयुक्त प्रतीत हो रहा था, तो इधर 'मुहावरा' के लिए मैंने 'वाग्योग' शब्द को निश्चित कर लिया। अंग्रेजी के Idiom और Usages शब्दों से भी मैंने इनकी तुलना की और उस दृष्टि से भी इन्हें उपयुक्त पाया।

अब 'वाग्योग' और 'मुहावरा' को पर्यायवाची मानते हुए, मैंने मुहावरा-जैसे प्रयोग, संस्कृत-भाषा में ढूँडने प्रारम्भ कर दिये। प्रारम्भ में मेरा विचार था कि यदि संस्कृत-साहित्य से, संस्कृत के २००-२५० वाग्योग भी मैंने खोज लिये तो विषय की प्रतिष्ठा हो जायेगी। इसी विचार से, सर्वप्रथम मैंने नाटकों में वाग्योगों को खोजना प्रारम्भ किया। नाटकों में भाषा, चूँकि बोलचाल की भाषा के समान ही होती है, अतः मुझे आशा थी कि साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटकों में 'वाग्योग' अधिक मिलेंगे। मैंने भास, कालिदास, शूद्रक और भवभूति आदि के नाटकों में, ऐसे बहुत से प्रयोग खोज लिए जो वाग्योग प्रतीत होते थे। किन्तु, वाग्योग का कोई लक्षण मस्तिष्क में न होने के कारण, मैं हिन्दी के मुहावरा-जैसे जो प्रयोग खोज रहा था वैसे प्रयोग संस्कृत में नहीं मिल रहे थे। एक ही प्रयोग, जो पहली बार वाग्योग प्रतीत होता था, दूसरी बार देखने पर मैं उसे अस्वीकार कर देता था और कभी-कभी तीसरी बार फिर वही प्रयोग मुझे वाग्योग प्रतीत होने लगता था। संक्षेप में, सफलता अभी मुझे नहीं मिल रही थी।

शनैः शनैः सन् १९८० ई० के लगभग, कुछ ऐसा लगा कि अब मैं 'वाग्योग' को पहचानने लगा हूँ। निरन्तर, एक ही विषय पर दृष्टि लगाये रखने के कारण, सम्भवतः एक अतिरिक्त ज्ञानेन्द्रिय की-सी शक्ति मुझे उपलब्ध हो गयी थी और तब अर्थ की विलक्षणता और प्रयोग की लोकप्रियता के आधार पर 'वाग्योग' को पहचानना मुझे आ गया था। इसके साथ ही, संस्कृत भाषा की संयोगात्मक एवं संश्लेषणात्मक प्रकृति और सन्धि एवं समास के कारण वाग्योगों पर पड़ा हुआ आवरण भी मेरे लिए कुछ हल्का हो गया था। फिर, यह विश्वास भी था कि अन्य भाषाओं की भाँति संस्कृत में वाग्योग हैं तो अवश्य ही, भले ही मैं उन्हें पहचान नहीं पा रहा हूँ। जब हैं तो प्रयास करने पर मैं उन्हें कभी न कभी पहचान भी अवश्य ही लूँगा, समय भले हो अधिक लग जाय, और वह लगा भी।

अपने इसी विश्वास पर मै अडिग बना रहा और एक दिन वह आया जब मुझे ऐसा लगने लगा कि केवल भास के नाटकों में ही, इतने वाग्योग मुझे मिल जायेंगे, जिनके आधार पर इस विषय के शोधकार्य का श्रीगणेश मैं कर सकता हूँ। अन्त में, मैंने यह निश्चय कर लिया कि 'संस्कृत-वाग्योगों का विवेचनात्मक अध्ययन' शीर्षक यह शोध-प्रबन्ध मैं केवल भास के नाटकों के आधार पर ही प्रस्तुत करूँगा।

मुझे प्रसन्नता है कि गत बीस वर्षों से मस्तिष्क में पड़ा हुआ यह विषय, अब प्रबन्ध के रूप में, मैं पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर पा रहा हूँ। इस बीच अनेक विद्वानों, उनके अनेक ग्रन्थों एवं अन्य मित्रों से इसमें मुझे सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला है। मैं हृदय से उन सभी का आभारी हूँ और हृदय से उनका धन्यवाद करता हूँ। विषय के महत्त्व ने मुझे प्रोत्साहित किया है कि मैं अपने प्रबन्ध को पुस्तक रूप में मुद्रित कराकर प्रस्तुत करूँ। इसमें, सर्वोदय प्रेस, मेरठ के श्री राजकिशोर एम.ए. ने मुझे पूर्ण सहयोग दिया है। मैं उनका भी हृदय से आभारी हूँ।

संस्कृत में, वाग्योग-विवेचना की सम्भावनाएँ बहुत अधिक हैं। बहुत ही विस्तृत विषय है। प्रस्तुत प्रबन्ध में, एक सीमित क्षेत्र मे ही यह कार्य हो रहा है। इसके लिए मेरी अपनी कुछ विवशताएँ हैं। सब प्रकार से विचार करके, जितना है और जैसा है, मैं इसे प्रस्तुत कर रहा हूँ। शेष सब भविष्य के गर्भ में है।

बहुत ही संक्षेप में, और अत्यधिक विनम्रता के साथ, अपनी पूरी ईमानदारी से मैं केवल इतना हा कह सकता हूँ कि यदि संस्कृत-शोध के क्षेत्र में 'वाग्योग' भी एक विषय बन गया तो मेरा यह प्रयास मुझे पूरा सन्तोष प्रदान कर देगा। अस्तु,

आपरितोषाद् वाग्विदां
न सफलं मन्ये
वाग्योगविवेचन-
मिदमिति शम्॥

चन्द्रिका,
शिवाजी मार्ग
मेरठ—२५०००१
दूरभाष—72500

—कर्णसिंह
मार्च १९८९

सन्दर्भ-संकेत

१. 'संस्कृत-वाग्योगों का विवेचनात्मक अध्ययन' शीर्षक प्रस्तुत प्रबन्ध में, **भासनाटकचक्रम्** में प्रकाशित भास के नाटकों को आधार बनाया गया है। ये नाटक चौखम्बा विद्याभवन और चौखम्बा संस्कृत-सीरीज वाराणसी—१ से प्रकाशित हैं।

सन्दर्भ-संकेत इस प्रकार हैं :—

संकेत		**रचना**
दूतवा०	=	दूतवाक्यम्
कर्णभा०	=	कर्णभारम्
दूतघ०	=	दूतघटोत्कचम्
उरुभ०	=	उरुभङ्गम्
मध्यम०	=	मध्यमव्यायोगः
पञ्चरा०	=	पञ्चरात्रम्
अभिषे०	=	अभिषेकनाटकम्
बालच०	=	बालचरितम्
अविमा०	=	अविमारकम्
प्रतिमा०	=	प्रतिमानाटकम्
प्रतिज्ञा०	=	प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्
स्वप्न०	=	स्वप्नवासवदत्तम्
चारुद०	=	चारुदत्तम्

(दूतवा० १० = अर्थात् दूतवाक्यम् नाटक में पृष्ठ संख्या १० पर देखें)

२. मूल संस्कृत उद्धरणों में वाग्योग को '**स्थूलाक्षरों**' में प्रदर्शित किया गया है। यथा :— १. सम्भ्रमो**त्फुल्ललोचना**। यहाँ **उत्फुल्ललोचन** वाग्योग है।

२. **क्षिपसि वदसि रूक्षं लङ्घयित्वा प्रमाणम्**।

यहाँ तीन वाग्योग हैं—१. **क्षिपसि**, २. **रूक्षं वदसि** तथा **प्रमाणं लङ्घयित्वा**।

—:०:—

विषयानुक्रमणी

———

प्रथम अध्याय : प्रस्तावना

मुहावरा नहीं वाग्योग

'संस्कृत-मुहावरों का विवेचनात्मक अध्ययन,'—वाग्योगों के अध्ययन के लिए सर्वप्रथम हमने यही शीर्षक निश्चित किया था। यहाँ प्रयुक्त 'मुहावरा' शब्द को देखकर, सामान्य पाठक भी यह कह सकता है कि यह शब्द संस्कृत भाषा का नहीं है। निःसन्देह, यह शब्द संस्कृत का अपना शब्द नहीं है, हम भी इस मत से पूर्णतया सहमत है। फिर, हमने अपने अध्ययन के शीर्षक में 'मुहावरा' शब्द को पहले क्यों स्थान दिया था ? इसका सीधा, सरल और स्पष्ट उत्तर यही है कि उस समय हमारे अध्ययन की योजना ही हिन्दी और अंग्रेजी के तत्तुल्य अध्ययनों के आधार पर बनायी गयी थी। अध्ययन के लिए इस विषय की प्रेरणा ही हमें संस्कृत से भिन्न भाषाओं के ग्रन्थों से मिली थी। अतः, सर्वप्रथम तो मूल प्रेरक तत्त्वों से पिण्ड छुड़ाना ही टेढ़ी खीर होती है, दूसरे संस्कृत भाषा का कोई ऐसा ही उपयुक्त शब्द भी उस समय हमें उपलब्ध नहीं था। संस्कृत में, जहाँ तक हम अपनी सीमित दृष्टि से देख पाये हैं, ऐसा कोई अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है। हाँ, हिन्दी में, ऐसे सभी अध्ययनों में 'मुहावरा' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। अपितु, यहाँ तक कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा के एतद्विषयक अध्ययन-ग्रन्थों में अब 'मुहावरा' शब्द को ही पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया गया है।[१]

कुछ समय तक, 'मुहावरा' के लिए किसी संस्कृत शब्द की, हिन्दी अध्येताओं ने बहुत खोजबीन की, किन्तु, असफल होकर, अन्ततः उन्होंने 'मुहावरा' शब्द को ही स्वीकार कर लिया। इसके लिए सबसे बड़ा बहाना तो यही बनाया गया है कि जब 'मुहावरा' शब्द हिन्दी वालों के लिए इतना परिचत है और हिन्दी वाले उसका इतना अधिक प्रयोग करते हैं, तो फिर केवल इसलिए कि 'मुहावरा' शब्द हिन्दी का अपना शब्द नहीं है, या संस्कृत से, परम्परा में हिन्दी को नहीं मिला है, उसे छोड़ देना उचित नहीं है। इसके साथ ही, यह तर्क भी दिया गया कि 'मुहावरा' के स्थान पर जितने भी संस्कृत शब्द (तत्सम शब्द) अभी तक प्रयोग में लाये गये हैं, उनमें से कोई भी शब्द, उतना उपयुक्त सिद्ध नहीं हो पाया है कि वह शब्द, वही अर्थ दे सके; जो अर्थ 'मुहावरा' शब्द देता है।[२] और अन्ततः अपनी विशाल हृदयता की

१. दे० डॉ० ओमप्रकाश गुप्त, मुहावरा-मीमांसा, पृ० २०।
२. डॉ० ओमप्रकाश गुप्त, मुहावरा-मीमांसा, पृ० २०।

आड़ में, हिन्दी के प्राय: ऐसे सभी अध्ययनों में, 'मुहावरा' शब्द का ही व्यवहार किया जाने लगा है। इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए आविष्कृत और विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त शेष सभी शब्द पीछे छूट गये हैं तथा लोकप्रियता की प्रतिस्पर्द्धा में पिछड़कर उन्होंने मैदान छोड़ दिया है। ठीक भी है, सरल-सुगम मार्ग से सुलभ सफलता को त्यागकर तपस्या और श्रम से सम्भावित सिद्धि की ओर कौन आकृष्ट होता है—**"गतानुगतिको लोक:"**।

हिन्दी-अध्येताओं के तद्विषयक अध्ययनों में 'मुहावरा' शब्द के प्रयोग की जो बात ऊपर कही गयी है, अपने प्रस्तुत अध्ययन की योजना बनाते समय वही बात हम पर भी पूर्णरूपेण चरितार्थ हो रही थी। साथ ही, 'संस्कृत' और 'मुहावरा' शब्दों का अन्तर्भाषीय गठजोड़ भी उस समय हमें प्रलोभन में फँसा रहा था। अत: प्रारम्भ में, हमने भी अपने अध्ययन के शीर्षक में 'मुहावरा' शब्द को ही स्थान दिया था।

इसके अतिरिक्त, तब तक हमारा इस विषय का अध्ययन भी सीमित ही था और हम आश्वस्त नहीं थे कि 'मुहावरा' शब्द की तुलना में, संस्कृत का कोई उपयुक्त शब्द हमें उपलब्ध भी हो जायगा। विषय की प्रस्तावना में हम चाहते थे कि हिन्दी की, तद्विषयक अध्येताओं एवं विचारकों की लीक पर चलते हुए, हम भी 'मुहावरा' संज्ञा को ही स्वीकार कर लेंगे और अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जायेंगे। किन्तु, विषय का अधिक अध्ययन करने पर हम अपने उस निर्णय पर अडिग नहीं रह सके।

'मुहावरा' शब्द को अस्वीकारने में परिस्थिति ने भी हमारा साथ दिया है। परिस्थिति यह कि हमारा यह अध्ययन संस्कृत के अन्तर्गत है, हिन्दी के अन्तर्गत नहीं है। हिन्दी का क्षेत्र विस्तृत है और सामान्य है। हिन्दी आज देश की राष्ट्र भाषा है। हिन्दी भाषा-भाषियों की संख्या आज बहुत बड़ी है। सामान्य श्रमिक से लेकर विशिष्ट विद्वान् तक, हिन्दी की पहुँच है। देश की राजनीतिक, सामाजिक दशा की दृष्टि से भी यह उचित है कि राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हिन्दी भाषा का अपना हृदय विशाल हो। अन्य भाषाओं के अनेक शब्दों को अपनाकर उसे अपना शब्दकोश बढाना ही चाहिए।

अत:, मुहावरा-जैसे बहुप्रचलित शब्द को बहिष्कृत करके और उसके स्थान पर किसी दूसरे अप्रचलित या अल्प-प्रचलित शब्द को अभिषिक्त करना हिन्दी के लिए एक कठिन काम हो सकता है। उससे विवाद भी खड़ा हो सकता है। किन्तु, प्रस्तुत अध्ययन का क्षेत्र संस्कृत भाषा है और आज संस्कृत, सर्वसाधारण की भाषा न होकर एक विशिष्ट वर्ग की ही भाषा है। उसके अपने संस्कार है, उसकी अपनी प्रकृति है, उसकी अपनी प्रवृत्ति है। संस्कृत को अपनी मर्यादाओं को तोड़ने के लिए, किसी भी तर्क से विवश नहीं किया जा सकता। संस्कृत तो है ही 'संस्कृत'। आधुनिक भाषा, हिन्दी की भाँति संस्कृत को, लोकप्रियता का भी उतना और वैसा

प्रलोभन नहीं है कि वह 'मुहावरा'—जैसे, अरबी भाषा के शब्द को अपनाकर आगे बढ़ने का विचार करे। संस्कृत को यह भी चिन्ता नहीं है कि 'मुहावरा' शब्द के स्थान पर गृहीत शब्द, हिन्दी में गृहीत 'मुहावरा' शब्द की तरह प्रचलित भी हो पायेगा कि नहीं। आज संस्कृत भाषा स्वयं जितनी प्रचलित है, उतना प्रचलित ही वह शब्द हो जाय तो उसके लिए पर्याप्त है। अतः, उचित यही है कि संस्कृत के क्षेत्र के प्रस्तुत अध्ययन में, हम प्रारम्भ से ही ऐसा प्रयास करें कि एतद्विषयक किसी संस्कृत शब्द से ही इस विषय के विवेचन एवं विश्लेषण का श्रीगणेश हो सके।

इसके साथ ही, मुहावरा-विषयक किसी संस्कृत शब्द के प्रचलन की सम्भावना, यहाँ हिन्दी की अपेक्षा इसलिए भी अधिक है कि संस्कृत में मुहावरा-विषयक अध्ययन का अभी तक प्राय. अभाव ही है। संस्कृत में मुहावरों का कोई कोश या संकलन भी अभी प्रकाश में नहीं आया है। हिन्दी और अंग्रेजी के व्याकरण-ग्रन्थों या अनुवाद विषयक ग्रन्थों के अनुकरण पर लिखे गये, संस्कृत भाषा से सम्बन्धित नयी शैली के व्याकरण-ग्रन्थों, संस्कृत-रचना ग्रन्थों या अनुवाद-शिक्षा के ग्रन्थों में ही कुछ थोड़े बहुत मुहावरे देखने को मिल जाते हैं। ऐसे ग्रन्थों में भी तद्विषयक प्रकरण या अध्याय को, कहीं तो "सूक्तियाँ तथा मुहावरे"[१] शीर्षक दिया गया है, कहीं उन्हें "वाग्व्यवहार के प्रयोग"[२] कहा गया है और कहीं "लोकोक्तियाँ PROVERBS"[३] कहा गया है। एक अन्य ग्रन्थ में अपने ग्रन्थ की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लेखक ने "संस्कृत की लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग"[४] की बात भी कही है।

इस प्रकार संस्कृत में—'मुहावरा', 'वाग्व्यवहार', 'सूक्ति' तथा 'लोकोक्ति'—इन सभी शब्दों का सम्मिलित रूप से, एक ही अर्थ में प्रयोग हो रहा है। वस्तुतः, सूक्ति या लोकोक्ति तो मुहावरे से बहुत भिन्न ही है। इसका प्रतिपादन प्रस्तुत प्रबन्ध में ही, विशेष रूप से आगे किया जायेगा। यहाँ तो इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त है कि हिन्दी में प्रचलित 'मुहावरा' शब्द के स्थान पर, संस्कृत में भी 'मुहावरा' शब्द का प्रयोग, वस्तुतः उचित नहीं है। अतः, सर्वप्रथम यहाँ इसी विषय पर विचार करना आवश्यक है कि 'मुहावरा' शब्द के स्थान पर संस्कृत का कौन-सा ऐसा शब्द है, जिसे स्वीकार करना उचित है।

जहाँ तक प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रश्न है, यहाँ हमने 'मुहावरा' शब्द के स्थान

---

१. वामन शिवराम आप्टे, 'स्टुडेण्ट्स् गाइड टू संस्कृत कम्पोजीशन' का हिन्दी अनुवाद, परिशिष्ट—१.

२. चक्रधर नौटियाल, बृहद् अनुवाद-चन्द्रिका, पृ० ४६०।

३. चक्रधर नौटियाल, बृहद् अनुवाद-चन्द्रिका, पृ० ४६८।

४. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, प्रौढ़ रचनानुवादकौमुदी, आत्मनिवेदन, पृ० १५।

पर 'वाग्योग' शब्द को ही स्वीकार करने का निश्चय किया है। अपने इस निश्चय के पक्ष में कुछ तर्क प्रस्तुत करने से पूर्व, यहाँ 'वाग्योग' शब्द में प्रयुक्त 'वाक्' के महत्त्व पर विचार करना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

उक्त विचार का प्रथम कारण तो यही है कि प्रस्तुत प्रबन्ध में जो कुछ भी प्रस्तुत किया जाना है, वह सम्पूर्णतया 'वाक्' से ही सम्बन्धित है। इस रूप में 'वाक्' की, दूसरे शब्दों में 'वाग्देवी' की महिमा का उल्लेख स्वयं में प्रस्तुत प्रबन्ध का मंगलाचरण ही होगा।

'वाक्' के महत्त्व पर विचार करने का द्वितीय कारण यह है कि 'मुहावरा' शब्द के स्थान पर, जो 'वाग्योग' शब्द हमने स्वीकार किया है, उसके अर्थ-गाम्भीर्य को समझने के लिए भी पहले 'वाक्' को समझ लेना अनिवार्य है।

सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में, वैदिक साहित्य का स्थान सर्वप्रथम एवं सर्वोपरि है और वैदिक साहित्य में भी ऋग्वेद का स्थान महत्त्वपूर्ण है। 'वाक्' के महत्त्व को आंकने के लिए भी हमारा ध्यान, सर्वप्रथम ऋग्वेद पर ही जाता है। ऋग्वेद में 'अस्य वामस्य सूक्त',[१] 'वाचस्पति (बृहस्पति) सूक्त'[२] और 'वाक्सूक्त'[३]—इन तीन सूक्तों में वाक् की महिमा का प्रतिपादन देवता रूप में ही हुआ है।

'अस्य वामस्य' सूक्त में वाक् को आद्य सृष्टि (गौरी) के रूप में, विश्व की चेतनाशक्ति के रूप में तथा सरस्वती के रूप में देखा गया है।

वाचस्पति (बृहस्पति) सूक्त में शुद्ध वाक् के महत्त्व के प्रतिपादन के साथ ही साथ अर्थवती वाक् का महत्त्व भी बतलाया गया है।

इसी सूक्त के एक मन्त्र में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध-ज्ञान का महत्त्व भी प्रतिपादित है। यहीं कहा गया है कि अर्थ न जानने वाले के लिए ज्ञान-राशि का कोई महत्त्व नहीं है।[४]

'वाक् सूक्त' में 'वाक्' का महत्त्व सर्वशक्तिमती देवता के रूप में प्रतिपादित है। उसे सृष्टि की प्रेरिका, सर्जिका, पालिका और संहारिका शक्ति माना गया है। यहाँ व्यक्त किया गया है कि जो व्यक्ति वाक् के महत्त्व को नहीं समझते हैं, उनका विनाश हो जाता है।[५]

---

१. ऋग्वेद १/१६४।
२. ऋग्वेद १०/७१।
३. ऋग्वेद १०/१२५।
४. ऋग्वेद १०/७१/५।
५. ऋग्वेद १०/१२५/४।

उपर्युक्त महत्त्व के अतिरिक्त भी 'ऋग्वेद' में एक स्थल पर 'वाक्' को, असुरों पर देवताओं की विजय कराने वाली कहा गया है ।[1] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर उसे विश्व को व्याप्त करने वाली भी कहा गया है ।[2]

संहिता-ग्रन्थों के उपरान्त ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी 'वाक्' का महत्त्व वर्णित है । जैमिनीय ब्राह्मण में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में 'वाक्' ही थी ।[3] शतपथ ब्राह्मण में 'वाक्' को परब्रह्म के रूप में माना गया है ।[4] भारतीय चिन्तन-परम्परा में वाक् को केन्द्रीय तत्त्व स्वीकार करते हुए डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने अपना निष्कर्ष इस रूप में प्रस्तुत किया है—"वस्तुतः, भारतीय परम्परा प्रारम्भ से ही वाक् केन्द्रित परम्परा रही है और इसलिए न केवल उसमें वाक् को विशिष्ट देवत्व प्रदान किया गया है, बल्कि वाक् की परिशुद्धता और वाक् की साधना के द्वारा ही परमपद प्राप्त करने की कल्पना भी की गयी है ।"[5]

ऐसा प्रतीत होता है कि वाक् चिन्तन की इसी परम्परा में आगे चलकर भर्तृहरि ने 'शब्दब्रह्म'[6] की और आचार्य दण्डी ने 'शब्दज्योति'[7] की कल्पना की है ।

प्रस्तुत अध्ययन में स्वीकृत 'वाग्योग' शब्द में प्रयुक्त 'वाक्' शब्द का अर्थ एवं महत्त्व समझने के लिए भारतीय वाक्-चिन्तन-परम्परा की उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना आवश्यक है ।

अब, यदि 'वाग्योग' शब्द के व्यवहार पर अपना ध्यान केन्द्रित करें तो इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग कात्यायन मुनि ने अपने अधोलिखित श्लोक में किया है—

"यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे
शब्दान्यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र
वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥[8]

अर्थात् भाषाव्यवहार में कुशल जो व्यक्ति, विशिष्ट अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का उचित प्रयोग करता है, 'वाग्योगविद्' वह व्यक्ति इहलोक और परलोक में अनन्त विजय को प्राप्त करता है ।

---

१. ऋग्वेद १०/४२/१ तथा १०/५३/४ ।
२. ऋग्वेद १०/११४/८ ।
३. जैमिनीयब्राह्मण २/३६६ ।
४. शतपथब्राह्मण १४/६/१०/५–६ ।
५. भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन की पीठिका, भूमिका पृ० १,
६. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्ड १ ।
७. काव्यादर्शः १.४ ।
८. पतञ्जलिमुनि, महाभाष्यम्, १/१/१ ।

कात्यायनमुनि रचित उपर्युक्त श्लोक, उनके 'भ्राजा' नामक श्लोकों में से एक है। पतञ्जलिमुनि ने अपने 'महाभाष्यम्' ग्रन्थ में, व्याकरण के प्रयोजनों के प्रसंग में उक्त श्लोक को उद्धृत किया है।[1]

उपर्युक्त श्लोक में प्रयुक्त 'वाग्योग' शब्द और उसके अर्थ पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि 'वाग्योग' शब्द 'मुहावरा' शब्द की अपेक्षा, शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से उत्कृष्टतर है। अतः, इस प्रकार के अध्ययनों में, संस्कृत में यदि 'वाग्योग' शब्द का ही व्यवहार किया जाय तो वह भारतीय वाक्चिन्तन की परम्परा और वाग्व्यवहार के सर्वथा अनुकूल ही होगा।

वाचो (अर्थेन) योगः, वाग्योगः, तं वेत्ति यः सः = वाग्योगवित् अर्थात् वाक् का (अर्थ के साथ) योग ही वाग्योग है, (और) उसे जो जानता है, वह वाग्योगवित् कहलाता है।

यहाँ 'योग' शब्द का अर्थ 'योगः कर्मसु कौशलम्'[2] के अनुसार वाक् कौशल अथवा कालिदास के अनुसार 'वाक् की अर्थ के साथ संपृक्तता'[3] ही समझना चाहिए। वाक्कौशल का ज्ञाता व्यक्ति सही शब्द का सही अर्थ में प्रयोग करने में समर्थ होता है। भाषा के व्यवहार में वह लोकव्यवहार को प्रमाण मानकर अपने पूर्व प्रयोक्ताओं के शिष्ट प्रयोगों पर ध्यान केन्द्रित करता है[4] और तब अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुनता है। यही उसका 'वाग्योग' है।

'वाग्योग' शब्द, अर्थ की दृष्टि से उपयुक्त होने के साथ ही विद्वानों द्वारा सम्यग्ज्ञात और सुप्रयुक्त भी है। अभिनव पाणिनि श्री चारुदेव शास्त्री ने, अपने 'वाग्व्यवहारादर्शः' नामक ग्रन्थ के लिए लिखे गये 'अनुबन्ध' में 'वाग्योग' शब्द का प्रयोग दो बार किया है।[5]

उनके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के विद्वान् रेवाप्रसाद द्विवेदी ने भी 'वाग्योग' शब्द का प्रयोग किया है। विक्रमोर्वशीयम् नाटक के द्वितीय अंक में **"न खलु अक्षि-दुःखितस्य प्रमुखे दीपशिखा सहते"**—अपने द्वारा स्वीकृत इस पाठ में "दीपशिखा सहते" प्रयोग पर उन्होंने अधोलिखित टिप्पणी की है :—

---

१. दे० "क्व पुनरिदं पठितम्? भ्राजा नाम श्लोकाः।" (उद्योतः) भ्राजा नाम कात्यायनप्रणीताः श्लोका इत्याहुः ॥ व्याकरणमहाभाष्यम् १।१।१

२. गीता, २.५०

३. कालिदास, रघुवंशम्, १.१.

४. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। पतञ्जलि, योगसूत्रम् १.२.

५. दे०—"वाग्योगविदां वरः शबरः"—पृ० ३. तथा "वाग्योगविदः सूरयः" —पृ०६.

"अत्राकर्मकः सहिः। शोभते इति च तदर्थः। सोऽयमभिजातो वाग्योगः कालिदासस्य।"[१]

स्पष्ट ही 'कालिदासस्य वाग्योगः' से तात्पर्य यहाँ 'कालिदास का मुहावरा' ही है।

संक्षेप में, उपर्युक्त विद्वानों द्वारा सुप्रयुक्त होने के कारण भी 'वाग्योग' शब्द हमें प्रस्तुत सन्दर्भ में अधिक स्वीकार्य होना चाहिए।

मुहावरों का अध्ययन करने वाले हिन्दी अध्येताओं का ध्यान भी 'वाग्योग' शब्द पर गया है। "मुहावरा-मीमांसा" के लेखक डॉ० ओमप्रकाश गुप्त ने इस विषय का उल्लेख अपने ग्रन्थ में इस प्रकार किया है :—

"'मुहावरा' के स्थान में अब तक 'प्रयुक्तता', 'रीति', 'वाग्धारा', 'भाषा-सम्प्रदाय', 'वाक्रीति', 'वाक्पद्धति,' 'वाग्व्यवहार', वाक्-सम्प्रदाय', 'विशिष्ट प्रयोग,' 'वाक्-वैचित्र्य,' **'वाग्योग'** और 'इष्टप्रयोग'—ये बारह नाम हमारे देखने और सुनने में आये हैं।"[२]

डॉ० ओम्प्रकाश गुप्त ने अपने डी० लिट् के शोध-प्रबन्ध में इन सभी शब्दों पर विचार किया है और अन्त में वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनमें से कोई भी शब्द **'मुहावरा'** शब्द के अर्थ को पूर्णतया व्यक्त करने में असमर्थ है, अतः "उर्दू और हिन्दी दोनों के निमित्त ही 'मुहावरा' सर्वोपयुक्त शब्द है।[३]"

यहाँ, हम अपने पाठकों का ध्यान इस ओर अवश्य आकृष्ट करना चाहेंगे कि 'मुहावरा-मीमांसा' ग्रन्थ का विषय क्षेत्र हिन्दी-मुहावरे ही हैं। इस कारण से तथा इसके लेखक डॉ० ओम्प्रकाश गुप्त के गाँधीवादी होने के कारण से उनका यह मानना स्वाभाविक ही है कि 'मुहावरा' के लिए 'मुहावरा' शब्द ही 'सर्वोपयुक्त शब्द' है। किन्तु, उनका यह 'सर्वोपयुक्त' शब्द, संस्कृत के लिए हमें स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि, जैसा पहले भी लिखा जा चुका है, हिन्दी की परिस्थितियाँ संस्कृत से बहुत भिन्न हैं। अतः, हमें तो संस्कृत की ही दृष्टि से इस विषय पर निर्णय लेना है। हमारे लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यहाँ, यही है कि मुहावरा-जैसे विषय का अध्ययन करते हुए भी हम संस्कृत से अवश्य ही जुड़े रहें। अतः, यदि संस्कृत में 'मुहावरा' शब्द के अर्थ को व्यक्त करने वाला और प्रयोग की दृष्टि से सुविधाजनक कोई उपयुक्त शब्द मिले, तो हमें निश्चय ही उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। इस दृष्टि से, 'वाग्योग' शब्द परम उपयुक्त शब्द है।

यह संकेत कर देना भी यहाँ अनुचित नहीं होगा कि स्वयं 'मुहावरा-मीमांसा

---

१. कालिदास-ग्रन्थावली, पृ० ३६७ की पाद टिप्पणी।

२. दे० मुहावरा-मीमांसा, पृ० १२.

३. दे० मुहावरा-मीमांसा, पृ० २०।

का लेखक भी 'वाग्योग' शब्द के प्रति पर्याप्त आकृष्ट प्रतीत होता है।[1] यही कारण है कि जब तक वह 'वाग्योग' शब्द से अभिप्रेत अर्थ पर विचार करता है, तब तक तो वह 'वाग्योग' शब्द का ही पूर्ण समर्थन करता है, किन्तु, जैसे ही, उसकी गाँधी-वादी विचारधारा[2] उसके आड़े आती है तथा जैसे ही हिन्दी भाषा को लोकप्रिय बनाने का उसका मोह उस पर हावी होता है, वैसे ही वह 'मुहावरा' शब्द को ही, हिन्दी में भी स्वीकार करने के लिए उद्यत हो जाता है।[3]

अतः, प्रस्तुत प्रबन्ध में संस्कृत की दृष्टि से जब हम 'मुहावरा' के स्थान पर प्रयोग किये जाने योग्य किसी संस्कृत शब्द पर विचार करते हैं, तो 'वाग्योग' शब्द ही हमें पूर्णतया उपयुक्त प्रतीत होता है।

साथ ही, हम यह भी स्पष्ट करना चाहेंगे कि 'वाग्योग' शब्द को मान्यता देने में, संस्कृत के प्रति हमारा पक्षपात ही सहायक नहीं है, अपितु स्वयं 'मुहावरा-मीमांसा' के लेखक ने भी मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार किया है कि "'वाग्योग' के अन्तर्गत मुहावरे के प्राय: सभी मुख्य-मुख्य गुण आ जाते हैं।"[4]

वस्तुतः, 'वाग्योग' शब्द के इतना अधिक उपयुक्त होने पर भी 'मुहावरा-मीमांसा' का लेखक हिन्दी की दृष्टि से उसे केवल इसीलिए अनुपयुक्त ठहरा देता है कि हिन्दी में 'वाग्योग' शब्द 'मुहावरा' शब्द के जैसा लोकप्रसिद्ध नहीं हो सका है।

अब, यह तो स्पष्ट ही है कि लोक-प्रसिद्धि के निकष पर, जब स्वयं संस्कृत ही हिन्दी से पराभूत हो जाती है, तब किसी भी बहुप्रचलित एवं पुरातन शब्द की स्पर्द्धा में कोई अप्रचलित एवं नवीन शब्द कैसे विजय प्राप्त कर सकता है। किन्तु, जैसा कि पूर्व भी कहा जा चुका है, ये सब विवशताएँ हिन्दी के साथ हो सकती हैं, संस्कृत के साथ ये विवशताएँ नहीं हैं। अतः, संस्कृत-सम्बन्धी प्रस्तुत अध्ययन में हमें तो यही उपयुक्त प्रतीत होता है कि 'मुहावरा' शब्द के स्थान पर 'वाग्योग' शब्द को ही मान्यता दी जाय। हमें आशा है कि संस्कृत में, जैसे ही जैसे इस विषय के अध्ययन का विकास होगा, वैसे ही वैसे 'वाग्योग' शब्द भी बहुप्रयुक्त होकर लोकप्रिय हो जायगा।

संस्कृत में स्वीकृत हो जाने के उपरान्त तो हिन्दी में भी 'वाग्योग' शब्द के प्रचलित हो जाने की बहुत अधिक सम्भावना की जा सकती है। इसका कारण है कि 'मुहावरा' शब्द की अपेक्षा 'वाग्योग' शब्द अनेक दृष्टियों से उपयुक्त है।

---

१. दे० मुहावरा मीमांसा पृ० १।

२. दे० मुहावरा-मीमांसा का 'अर्पण' तथा 'बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना के संचालक श्री वैद्यनाथ पाण्डेय का वक्तव्य।

३. दे० डॉ० ओमप्रकाश गुप्त, मुहावरा-मीमांसा, पृ० १६।

४. दे० डॉ० ओमप्रकाश गुप्त, मुहावरा-मीमांसा, पृ० १६।

५. दे० वही वही पृ० १६।

यथा :—

१. बहुप्रचलित होने के उपरान्त भी अभी तक हिन्दी में 'मुहावरा' शब्द की वर्तनी निश्चित नहीं हो पायी है। 'महाविरा', 'महावरा', 'महावुरा', 'मुहाविरा', 'मुहव्वरा', मुहावुरा' और 'मुहावरा'—इत्यादि भिन्न-भिन्न रूपों में यह लिखा जाता है।[1]

मुहावरे की तुलना में 'वाग्योग' शब्द की वर्तनी इतनी निश्चित और स्पष्ट है कि उसमें भिन्नरूपता की कोई सम्भावना ही नहीं है।

२. अरबी शब्द होने के कारण 'मुहावरा' शब्द भारतीय संस्कारों के उतना समीप नहीं है, जितना समीप संस्कृत का 'वाग्योग' शब्द है।

३. अरबी मूल का होने तथा वर्तनी की अनिश्चितता के कारण 'मुहावरा' शब्द के उच्चारण में उतनी सुविधा नहीं है, जितनी की संस्कृत के 'वाग्योग' शब्द के उच्चारण में है।

४. प्रयोग से शनैः शनैः यह भी सिद्ध हो जायगा कि अर्थगाम्भीर्य, अर्थ-विस्तार, अर्थोदात्तता की जो विशेषताएँ 'वाग्योग' शब्द में हैं, वे 'मुहावरा' शब्द में नहीं हैं। इस दृष्टि से 'मुहावरा' शब्द बहुत ही उथला एवं खोखला-सा प्रतीत होता है।

५. वर्ण और मात्रा आदि की दृष्टि से 'वाग्योग' और 'मुहावरा' शब्दों के एक-जैसा होते हुए भी; लिङ्ग, वचन और कारक आदि की दृष्टि से 'वाग्योग' शब्द के प्रयोग में जो सुविधा है, वह 'मुहावरा' शब्द के प्रयोग में नहीं है।

'मुहावरा', 'मुहावरे' और 'मुहावरों' आदि अनेक रूपों की तुलना में 'वाग्योग' इस एक ही रूप का प्रयोग, हिन्दी में सभी स्थलों पर हो सकता है।

६. आकारान्त 'मुहावरा' संज्ञा, पुंल्लिग शब्द है, जो हिन्दी की प्रकृति के बहुत अनुकूल नहीं है। हिन्दी में आकारान्त, पुंल्लिग संज्ञा शब्दों की संख्या बहुत ही कम है। अधिकांश पुंल्लिग शब्द अकारान्त ही हैं। अतः, अकारान्त, पुंल्लिग 'वाग्योग' शब्द हिन्दी के प्रकृति के भी अधिक अनुकूल है।

—:०:—

---

१. दे० मुहावरा-मीमांसा पृ० ४।

वाग्योग और वाग्व्यवहार

'वाग्योग' शब्द को, मुहावरा के स्थान पर स्वीकार कर लेने के उपरान्त यहाँ, भाषा में प्रयोग की दृष्टि से वाग्योग और वाग्व्यवहार शब्दों पर विचार करना आवश्यक है।

संक्षेप में, हम यहाँ यह बतलाना आवश्यक समझते हैं कि 'वाग्योग' और वाग्व्यवहार प्रयोग में, स्वरूपतः भिन्न-भिन्न हैं। **"शिष्टजुष्टो वाग्व्यवहारः"** आचार्य चारुदेव शास्त्री के इस लक्षणवाक्य[1] के अनुसार संस्कृत-भाषा का परम्पराप्राप्त शिष्टानुमोदित, विशिष्ट व्यवहार ही 'वाग्व्यवहार' है।[2] वाक्य में शब्दों का क्रम, शब्दों का अन्वय और शब्दों का इष्ट प्रयोग ही वाग्व्यवहार है। वाग्व्यवहार के इन नियमों का पालन करने के साथ ही 'वाग्योग' में शब्दों, शब्द-समूहों और वाक्यों से अभिव्यञ्जित तात्पर्यार्थ की रुढ़ियों का पालन भी होता है। उदाहरण के लिए 'कुत्तों का भौंकना,' 'गधों का रेंकना, और 'बकरियों का मिमियाना,' ये सब वाग्व्यवहार के अन्तर्गत हैं, क्योंकि यहाँ सामान्य 'बोलना' क्रिया का प्रयोग न होकर कुत्तों, गधों और बकरियों के लिए परम्परा-प्राप्त और शिष्टानुमोदित विशिष्ट क्रियाओं—भौंकना, रेंकना तथा मिमियाना का प्रयोग हुआ है। किन्तु **'कुत्तों को भौंकने दो'** तुम अपना काम करो', यहाँ 'कुत्ता भौंकना' का प्रयोग 'वाग्योग' के रूप में हुआ है।

संस्कृत में 'देवो जलं वर्षति' यह वाक्य वाग्व्यवहार के अनुकूल नहीं है। क्योंकि, 'वर्षति' क्रिया के साथ 'जलम्' कर्म का प्रयोग लोकपरम्पराप्राप्त एवं शिष्टजन-सम्मत नहीं है, अतः 'देवो वर्षति' ही वाग्व्यवहार है। इसके साथ ही **'पार्थः शरान् वर्षति'**—यह वाक्य वाग्व्यवहार के भी अनुकूल है और वाग्योगात्मक भी है। यहाँ 'शरान् वर्षति'—इस वाग्योग का सुन्दर प्रयोग हुआ है, जिसका तात्पर्य है कि पार्थ (अर्जुन) बाणों को जल्दी-जल्दी और भारी संख्या में, अपने लक्ष्य पर छोड़ रहा है।

संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन में व्याकरण पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है, वाग्व्यवहार पर दृष्टि कम जाती है। किन्तु, वाग्व्यवहार-ज्ञान के बिना भाषा का प्रयोग निर्दुष्ट रूप से नहीं हो सकता। क्योंकि, भाषा में प्रयोग वाक्यों का ही होता है और वाक्य-शुद्धि के लिए वाग्व्यवहार का ज्ञान आवश्यक है। आचार्य चारुदेव शास्त्री ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। अपने 'वाग्व्यवहारादर्शः' ग्रन्थ में उन्होंने कई सौ वाक्यों का संग्रह, आदर्श वाग्व्यवहार को दृष्टि में रखते हुए किया है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि संस्कृत भाषा की दृष्टि से, सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि भाषा व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हो। इसके साथ

---

१. देखिए, वाग्व्यवहारादर्शः, निवेदना।

२. देखिए, वही, पृ० १।

ही, उसे परम्पराप्राप्त शिष्ट-अनुमोदित इष्ट प्रयोग वाला भी होना ही चाहिए। तभी वह वाग्व्यवहार का आदर्श बन सकती है। इसके बाद, यदि उसमें लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ के द्वारा तात्पर्य को प्रकट करने की योग्यता वाले बहुप्रयुक्त वाग्योग भी हों, तो वह, निश्चय ही वाग्योगवती हो जाती है।

उर्दू में 'मुहावरा' शब्द के साथ ही 'रोज़मर्रा' शब्द भी देखने में आता है। हिन्दी में 'मुहावरा' शब्द को तो ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु 'रोज़मर्रा' के स्थान पर 'बोलचाल' शब्द का प्रयोग होता है। अंग्रेजी में 'मुहावरा' के लिये ईडियम (idiom) और 'रोज़मर्रा' अथवा 'बोलचाल' के लिये यूसेज़ेज़ (usages) शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

प्रस्तुत अध्ययन में, जिसे हमने 'वाग्योग' कहा है, हिन्दी-उर्दू में वही 'मुहावरा' है और अंग्रेजी में वही ईडियम है तथा जिसे हमने 'वाग्व्यवहार' कहा है, हिन्दी में वही 'बोलचाल' है, उर्दू में वही 'रोजमर्रा' है और अंग्रेजी में वही 'यूसेज़ेज़' है। अधिक स्पष्टता के लिये हम इन शब्दों को इस प्रकार रख सकते हैं :—

संस्कृत	**हिन्दी**	**उर्दू**	**अंग्रेजी**
वाग्योग	मुहावरा	मुहावरा	Idiom
वाग्व्यवहार	बोलचाल	रोज़मर्रा	Usages

हिन्दी और उर्दू के अनेक विद्वान् 'मुहावरा' और 'बोलचाल' (या 'रोज़मर्रा') में कोई भेद नहीं करते हैं।[1] कुछ अन्य इन्हें मुहावरा के ही दो रूप स्वीकार करते हैं।[2] किन्तु 'मुहावरा' और 'बोलचाल' में वही अन्तर है, जो किसी देहयष्टि में, अंगों के आनुपातिक गठन की सुन्दरता में और उसके किसी अंगविशेष की सुन्दरता में होता है।

अधिक स्पष्टता के लिये हम कह सकते हैं कि भाषा को यदि हम शरीर मान लें, तो वाग्व्यवहार, उस शरीर की सुन्दर गठन है। उसका सम्बन्ध पूरे भाषा-शरीर से है। उसमें कमी आ जाने से शरीर बेडौल एवं विकृत हो जाता है। इसलिये भाषा के लिये वाग्व्यवहार का होना अनिवार्य है। वाग्व्यवहार के लिये आवश्यक है कि उसमें साधु शब्दों का उचित स्थलों पर प्रयोग किया जाय, वाक्य-विन्यास सही हो, और अभिधा शक्ति के द्वारा शब्दों का अर्थ सहज ही ज्ञात हो जाय।

भाषा-शरीर के उपर्युक्त प्राथमिक सामान्य सौन्दर्य (वाग्व्यवहार) के अतिरिक्त 'वाग्योग,' भाषा-शरीर के किसी विशिष्ट अंग का विशिष्ट सौन्दर्य होता है। उससे भाषा-शरीर के सौन्दर्य में वृद्धि हो जाती है। वाग्योग में, लाक्षणिक एवं व्यंजक शब्दों के विलक्षण प्रयोग से तात्पर्य की अभिव्यक्ति होती है।

संक्षेप में, भाषा में वाग्व्यवहार का निर्वाह होना अनिवार्य है, वाग्योग ऐच्छिक है। बिना वाग्योग के भी वाग्व्यवहार हो सकता है, किन्तु वाग्व्यवहार के बिना वाग्योग नहीं हो सकता।

---

१. देखिये, हिन्दी-मुहावरे, पण्डित रामदादहिन मिश्र, पृ० ६।
२. देखिये, हिन्दी सीमेण्टिक्स, हरदेव बाहरी, पृ० २५६.

वाग्योग, सूक्ति एवं लोकोक्ति

वाग्योगों के प्रसंग में लोकोक्ति पर विचार करना भी उपयोगी है। इसमें प्रमुख कारण तो यही है कि प्रायः मुहावरा और लोकोक्ति में अन्तर नहीं किया जाता है। अपने प्रस्तुत अध्ययन के समय भी हमें अनेक बार ऐसा ही अनुभव हुआ है। अनेक विद्वानों से मुहावरा पर विचार करते समय यही अनुभव किया है कि प्रायः विद्वान् इन दोनों में कोई भेद नहीं करते हैं। इतना ही नहीं, कई ग्रन्थों में इनका संकलन भी एक साथ ही कर दिया गया है।[१] हिन्दी–मुहावरों पर विचार करते हुए पण्डित रामदहिन मिश्र ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि "कोई-कोई कहावत (लोकोक्ति) को ही मुहावरा कहते हैं, जैसे—'नौ नगद, न तेरह उधार,' 'नौ की लकड़ी नब्बे खर्च' आदि।[२]

'सूचि-कटाह न्याय' से, यहाँ पहले हम सूक्ति एवं लोकोक्ति पर विचार करेंगे। तत्पश्चात् वाग्योग एवं लोकोक्ति के अन्तर को स्पष्ट करेंगे।

वैदिककाल में, यह परम्परा थी कि मन्त्रों को कण्टस्थ कर लिया जाता था और अवसर आने पर उनका उपयोग किया जाता था। आगे के काल में भी यह परम्परा आंशिक रूप से चलती रही। अर्थात् पूरी रचना को कण्ठस्थ करने के स्थान पर महत्त्वपूर्ण एवं अच्छी रचनाओं के सुन्दर और उपयोगी गद्य-पद्य के खण्डों, वाक्यों आदि को लोग कण्ठस्थ करते रहे। अब भी रामायण और महाभारत की अनेक सूक्तियाँ लोगों की जिह्वा पर चढ़ी हुई हैं। संस्कृत-साहित्य से संकलित सूक्तियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि किसी विशेष कवि के नाम से ज्ञात एवं व्यवहार-ज्ञान के लिये आदर्श रूप में प्रसिद्ध और लोकप्रिय गद्य-पद्य का कोई सुन्दर वाक्य ही सूक्ति है।

लेखक और उक्ति में चूंकि उक्ति का ही महत्त्व होता है तथा खण्डन और मण्डन में लोक उक्ति का ही प्रयोग करता है, इसलिये कालान्तर में उक्ति ही लोक-स्मृति में रह जाती है, उसके लेखक को लोक भूल जाता है। शनैः शनैः एक मुख से दूसरे मुख में होती हुई वह उक्ति, लोकसामान्य की वस्तु हो जाती है, और 'लोकोक्ति' बन जाती है। बाद में, अन्य लेखक भी उसका उपयोग 'लोकोक्ति' के रूप में अपनी रचनाओं में करते रहते हैं।

---

१. देखिए, वी० एस० आप्टे, स्टूडेण्ट्स् गाइड टु संस्कृत कम्पोजीशन (हिन्दी अनुवाद परिशिष्ट १.

२. हिन्दी–मुहावरे, पृ० ८.

संक्षेप में, सूक्ति और लोकोक्ति में यही अन्तर है कि सूक्ति के साथ किसी विशेष व्यक्ति का नाम, लेखक के रूप में सम्बद्ध रहता है। यथा :—

"अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।" (सूक्ति)

—कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक १.

इसके विपरीत लोकोक्ति, लोकसामान्य की उक्ति के रूप में ही जानी जाती है। उसके लेखक का नाम कोई नहीं जानता। यथा :—

"मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना।" (लोकोक्ति)।

"हस्तकंकणं किं दर्पणे प्रेक्ष्यते।" (लोकोक्ति)।

यहाँ, वाग्योग एवं लोकोक्ति पर विशेष रूप से विचार करना उपयोगी होगा। इन दोनों के स्वरूप एवं प्रयोग के विषय में प्रायः अस्पष्टता बनी रहती है। जैसा पूर्व भी कहा जा चुका है, कुछ लोग 'वाग्योग' और 'लोकोक्ति' में अन्तर न कर पाने के कारण लोकोक्ति को ही वाग्योग मान लेते हैं।

इस प्रकार के भ्रम का कारण यह है कि भाषा में वाग्योग एवं लोकोक्ति—इन दोनों का ही उपयोग लगभग एक ही रूप में होता है। दोनों में ही अर्थ की विलक्षणता एवं व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है। विषय के प्रतिपादन में दोनों ही सहायक हैं। दोनों की उत्पत्ति एवं विकास की परिस्थितियाँ भी एक-सी ही हैं। किन्तु, इस सबके होते हुए भी 'वाग्योग' और 'लोकोक्ति'—ये दो नाम ही इस बात का संकेत करते हैं कि ये दोनों स्वरूपतः भिन्न-भिन्न हैं।

वस्तुतः, रूप, अर्थ और उपयोगिता—इन तीनों ही दृष्टियों से वाग्योग और लोकोक्ति में अन्तर है। यथा :—

१. रूप की दृष्टि से लोकोक्ति एक वाक्य होता है। वाक्य के लिए आवश्यक उद्देश्य और विधेय आदि उसमें होते हैं। लोकोक्ति का, कथन में प्रयोग होने पर भी उसका रूप वैसा ही बना रहता है। रचना की दृष्टि से उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। उदाहरण के लिये 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'—इस लोकोक्ति का प्रयोग सदैव इसी रूप में होता है।

रूप की दृष्टि से 'वाग्योग' वाक्यांश होता है। कभी-कभी एक शब्द का भी प्रयोग वाग्योग के रूप में हो जाता है। काल, पुरुष, लिङ्ग, वचन, विभक्ति और कारक की दृष्टि से 'वाग्योग' के रूप में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिये,

'मुखम् अवलोकनम्', इस वाग्योग का प्रयोग—

मुखम् अवलोकयति, मुखम् अवलोकयसि, मुखम् अवलोकयत, मुखम् अवलोकयिष्यति आदि-आदि अनेक रूपों में हो सकता है।

२. अर्थ की दृष्टि से लोकोक्ति अपने में पूर्ण होती है। अपने अर्थ के लिये उसे किसी अन्य शब्द या शब्द-समूह की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अर्थ की दृष्टि 'वाग्योग' स्वयं में अपूर्ण होता है। अर्थ की अभिव्यक्ति के

लिए उसे वाक्य के अन्य पदों की सहायता लेनी पड़ती है। वाक्य में प्रयुक्त हुए बिना 'वाग्योग' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता।

३. लोकोक्ति का प्रयोग, पूर्व कही गयी बात के खण्डन या मण्डन के लिए होता है। पहले कही गयी बात का समर्थन 'लोकोक्ति' से होता है। उससे बात पूरी हो जाती है। यही कारण है कि प्रसंग-विशेष के अन्त में ही 'लोकोक्ति' का प्रयोग होता है।

वाग्योग के प्रयोग से अभिव्यक्ति में उत्कृष्टता आती है, उक्ति में चमत्कार आ जाता है तथा शैली प्रभावात्मक हो जाती है।

संक्षेप में, लोकोक्ति का सम्बन्ध अनुभूति पक्ष से होता है, अर्थ से होता है। वाग्योग का सम्बन्ध अभिव्यक्ति पक्ष से होता है, कथन–शैली से होता है। भाषा में लोकोक्तियों की संख्या कम और वाग्योग की संख्या अधिक होती है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में, हमने सूक्ति और लोकोक्ति को समान ही माना है। सूक्ति अथवा लोकोक्ति भाषा में एक ही इकाई है। क्योंकि लोकोक्ति का प्रयोग, सम्भाषण में ही लोगों के द्वारा अधिक किया जाता है। संस्कृत–साहित्य में लोकोक्तियों की संख्या अधिक नहीं है।

भास की रचनाओं से उद्धृत कुछ सूक्तियाँ और वाग्योग इस प्रकार है। यथा :—

सूक्तियाँ

(१) **"नीते रत्ने भाजने को निरोधः ।"**—प्रतिज्ञा० पृ० ११९.

अर्थात् रत्न (मूल्यवान् वस्तु) के चले जाने पर, उसके रखने के पात्र को बचाने में, शक्ति लगाना व्यर्थ है। जब रत्न को नहीं बचा सके तो उसके पात्र को बचाने से क्या लाभ है।

(२) **"चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः ।"** स्वप्न० पृ० ११.

यहाँ, भाग्य में ऊँच-नीच (अच्छा-बुरा) होने का समर्थन किया गया है।

वाग्योग

(१) **नयनपात्रपेयम्** (वपुः)। —अविमा० पृ० ४०. (आँखों से पीना)
(२) **दृष्टया पिबन्ती** (सा)। —चारुद० पृ० १०८. (आँखों से पीना)
(३) **गतं शीर्षम्**। —बालच० पृ० २० (सिर का जाना)
(४) **शीर्षेण याचे**। —चारुद० पृ० १०१ (सिर झुकाकर माँगना)
(५) **क्लेदयति हृदयम्**। —प्रतिमा० पृ० १०५. (दिल पसीजना)

वाग्योग–महत्त्व

वाग्योग भाषा-रत्नाकार के बहुमूल्य रत्न हैं। उन्हें हम भाषा-उपवन के सुन्दर सुमन भी कह सकते हैं। भाषा हो, और उसमें वाग्योग न हों, ऐसा सम्भव नहीं है। संख्या में थोड़े या अधिक हों, किन्तु भाषा में उनका नितान्त अभाव हो जाय, ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि, वाग्योगों से वञ्चित रहकर कोई भी भाषा सजीव नहीं रह सकती। इतना ही नहीं वाग्योगविहीन भाषा निस्तेज एवं नीरस हो जाती है। इसलिये वाग्योगों को हम जीवित भाषा का प्राण कह सकते हैं। प्रत्येक लेखक का यह प्रयास रहता है कि अपनी कृति में वह उस भाषा का प्रयोग करे, जिसमें लोकप्रचलित वाग्योगों की बहुलता हो। ऐसा करने से भाषा में सम्प्रेषणीयता आती है और कृति को लोकप्रियता प्राप्त होती है।

भाषा में वाग्योगों के विवेचन की ओर, विद्वानों का ध्यान विलम्ब से भले ही गया हो, किन्तु वाग्योगों का अविर्भाव, निश्चय ही, हमारी भाषा के अविर्भाव के साथ ही हुआ है। वस्तुतः, भाषा के माध्यम से हम मानव-मन की जिन प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति देते हैं, वे ही प्रवृत्तियाँ वाग्योगों के अविर्भाव के मूल में भी होती हैं। भाषा के द्वारा जिस प्रकार हम अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं, वाग्योगों के द्वारा उसी प्रकार हम उन्हें श्रोताओं और पाठकों पर प्रभाववती भी देखना चाहते हैं। इसी कारण सूचनाओं में, हम लोकप्रचलित भाषा-प्रयोगों का ही उपयोग करते हैं। हमारा प्रयास रहता है कि कम से कम शब्दों में और कम से कम समय में हम अधिक से अधिक बात कह दें। इसके लिये हम अधिक से अधिक सरल, सुबोध, स्पष्ट एवं प्रभावपूर्ण शैली को अपनाते हैं। इस प्रयोजन की पूर्ति में वाग्योग सबसे अधिक सहायक सिद्ध होते हैं। बोलचाल में एवं लेखन में सरल भाषा के साथ ही हमारा ध्यान लोकप्रचलित प्रयोगों की ओर भी रहता है। वस्तुतः बोलचाल में बार-बार प्रयुक्त होने वाले लोकप्रचलित प्रयोग ही 'वाग्योग' कहलाते हैं। ये ही भाषा के 'विशिष्ट प्रयोग' होते हैं। इन्हीं को हम 'भाषा के स्वीकृत ढांचे' भी कह सकते हैं। वाग्योगों की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि उन पर लोक-स्वीकृति की मुहर लगी होती है।

वाग्योगों की एक अन्य विशेषता उनकी लाक्षणिकता है। नित्यप्रति की हमारी भाषा में कुछ ऐसे लाक्षणिक प्रयोगे होते हैं, जो अन्य प्रयोगों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हो जाते हैं। ऐसे प्रयोग, प्रत्येक अच्छे वक्ता अथवा अच्छे लेखक की शैली का अंग बन जाते हैं। आगे चलकर ये ही प्रयोग 'वाग्योगों' की पदवी प्राप्त कर लेते हैं। हास-परिहास, आवेश, क्रोध, घृणा एवं उत्साह आदि के अवसरों पर वाग्योगों का प्रयोग, वक्ता की भाषा में विशेष रूप से देखा जाता है। गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति अथवा गूढ़ विषयों के लिए वाग्योगों का प्रयोग कम ही होता है। आदर्शवाद की तुलना में यथार्थवाद की भाषा अधिक वाग्योगवती होती है।

संस्कृत में, काव्यों की तुलना में नाटकों में एवं कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की तुलना में भी 'शूद्रक' के 'मृच्छकटिकम्' में वाग्योगों का प्रयोग अधिक हुआ है।

यहाँ, यह संकेत कर देना भी अनुचित नहीं होगा कि प्रायः प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान की अपनी विशिष्ट शब्दावली की भाँति ही, प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान के अपने विशेष वाग्योग भी होते हैं, उन्हीं के द्वारा उसे भली प्रकार समझा और समझाया जा सकता है। इसी प्रकार वातावरण-विशेष के लिए भी विशेष वाग्योगों की सहायता वक्ता और श्रोता तथा लेखक और पाठक को लेनी पड़ती है। इस दृष्टि से देखें तो वैयाकरणों के वाग्योगों से साहित्यशास्त्रियों के वाग्योग एवं आयुर्वेदाचार्यों के वाग्योगों से ज्योतिषाचार्यों के वाग्योग निश्चय ही भिन्न होते हैं।

वाग्योगों को हम समाज का दर्पण भी कह सकते हैं। किसी समाज को जानने के लिए, उसके सदस्यों द्वारा प्रयुक्त वाग्योगों को ही, सर्वप्रथम देखा जाना चाहिए। जैसे किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को जानने के लिए उसकी भाषा को जानना होता है और उसके द्वारा प्रयुक्त वाग्योगों का विश्लेषण करना उपयोगी होता है, वैसे ही पूरे समाज को जानने के लिए भी उसकी भाषा को और उसके सदस्यों द्वारा प्रयुक्त वाग्योगों को ही देखा जाना चाहिए। उन्नत समाज की भाषा भी उन्नत होती है। उसमें वाग्योगों की भी बहुलता होती है। उन्नत समाज से, हमारा तात्पर्य यहाँ बहुमुखी विकास वाले समाज से है।

प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को जानने के लिए वाग्योगों का ज्ञान आवश्यक है। पुराने खण्डहरों की खुदाई में जितना श्रम लगता है और जितना धन व्यय होता है, उसकी तुलना में पुराने वाग्योगों के विश्लेषण से प्राचीन सभ्यताओं को बहुत ही अल्प श्रम से और अल्प धन से जाना जा सकता है। क्योंकि वाग्योगों का सम्बन्ध तत्कालीन पूरे समाज से होता है। वे सम्पूर्ण लोकमानस की उपज होते हैं। समाज के शिष्ट और अशिष्ट, शिक्षित और अशिक्षित सभी सदस्य उनका प्रयोग करते हैं। लोकप्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति वाग्योगों में ही हुआ करती है।

भाषा-विशेष को सीखने के लिए भी उसके वाग्योगों का ज्ञान आवश्यक होता है। वाग्योगों में भाषा का रूप स्थिर हो जाता है। प्रायः एक-जैसे भावों की अभिव्यक्ति एक-सी ही शब्दावलि में की जाती है। वाग्योगों के प्रयोग से भाषा की अव्यवस्था और संदिग्धता दूर हो जाती है। निश्चित शब्दों एवं निश्चित शब्द-समूहों के द्वारा अर्थ को समझने में भी सरलता हो जाती है। यही कारण है कि प्रत्येक अच्छा लेखक अपनी रचना में अथवा अच्छा वक्ता अपने भाषण में, वाग्योगों का अधिक से अधिक प्रयोग करना चाहता है। वही लेखक और वक्ता उत्कृष्ट माना जाता है, जिसकी भाषा में, वाग्योगों का प्रयोग अधिक संख्या में होता है। क्योंकि उसे समझना पाठकों एवं श्रोताओं के लिए अधिक सुगम होता है। ऐसे भाषणों एवं ऐसी कृतियों का प्रभाव भी अधिक होता है।

सामान्यतया, प्रत्येक भाषा की प्रवृत्ति वाग्योगों की ओर होती है। उनसे भाषा में सरलता का समावेश होता है। इस प्रवृत्ति का श्रीगणेश तो भाषा के आविर्भाव के साथ ही हो जाता है किन्तु जब पुराने वाग्योग अपना आकर्षण खो देते हैं तब नये वाग्योग बन जाते हैं। यह प्रक्रिया चलती रहती है। प्रारम्भ में भाषा में अभिधा का चमत्कार ही पर्याप्त होता है अर्थात् तब पृथ्वी को 'पृथ्वी' कह देना ही चमत्कारिता होती है, किन्तु, शनैः शनैः अभिधा का स्थान लक्षणा और व्यञ्जना ले लेती हैं। और तब उसी पृथ्वी को 'धरिणी', 'वसुधा' एवं 'वसुन्धरा' आदि कहा जाने लगता है। धीरे-धीरे लाक्षणिकता और व्यञ्जकता शब्दों में न रहकर शब्द-समूहों में आ जाती है तथा लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की अपेक्षा तात्पर्यार्थ प्रमुख हो जाता है। इन्हीं को हम 'वाग्योग' कहते हैं। ये वाग्योग ही भाषा के आभूषण होते हैं। इन्हीं के आधार पर किसी भाषा की समृद्धि को आँका जाता है।

—:०:—

वाग्योग का लक्षण

वाग्योग का लक्षण करना सरल नहीं है। इसका प्रमुख कारण तो यही है कि अभी तक संस्कृत वाग्योगों का न तो कोई संकलन ही हुआ है और न ही इस विषय के विवेचन की ओर विद्वानों का ध्यान गया है। अतः, जब तक वाग्योगों का कोई संकलन न हो जाय, तब तक 'वाग्योग' का कोई स्वतन्त्र लक्षण करना कठिन ही है। अभी तो 'मुहावरा' शब्द का पर्याय मानकर, मुहावरा के आधार पर ही 'वाग्योग' को समझना हमारे लिए अधिक सुविधाजनक है। वैसे 'मुहावरा' का भी कोई सर्वसम्मत लक्षण अभी तक हिन्दी में भी निश्चित नहीं हो पाया है। क्योंकि गत पचास वर्षों में ही, हिन्दी विद्वानों का भी ध्यान इस ओर गया है। इस विषय का संक्षिप्त विवरण देना यहाँ अनुचित नहीं होगा।

हिन्दी भाषा के सन्दर्भ में, 'मुहावरा' शब्द पर विस्तार से विचार करने वालों में पण्डित आयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का नाम सबसे पहला है। 'हरिऔध' जी ने 'मुहावरा' शब्द पर अनेक दृष्टियों से विचार किया है। अपने विवेचन में उन्होंने 'गयासुल्लुगात', 'फरहंग आसफिया', 'मुकद्दमा शेर व शायरी', 'वेबस्टर-कोष' और 'हिन्दी शब्द-सागर' आदि अनेक ग्रन्थों को उद्धृत किया है।[1]

---

१. बोलचाल भूमिका, पृ० ११३, १२५-१२६।

हिन्दी के लिए, उन्होंने 'मुहावरा' शब्द को स्वीकार किया है तथा 'बोलचाल' और 'मुहावरा' इन दोनों स्वरूपों को 'मुहावरा' माना है। उनके अनुसार :—

"भाषातत्त्वविदों और आचार्यों ने बोलचाल पर दृष्टि रखकर जो वाक्य-रचना-प्रणाली उद्‌भावन कर दी है, जिस प्रकार शब्द-विन्यास का उदाहरण उपस्थित किया है, वे ही हमारे आदर्श हैं और उसी आदर्श का नाम रोज़मर्रा अथवा बोलचाल है। जहाँ यह रोज़मर्रा अथवा बोलचाल साधारण वाक्य से आगे बढ़कर लक्षणा अथवा व्यञ्जना द्वारा अपना भाव प्रकट करता है, और शब्दार्थ से काम नहीं लेता, वहाँ वह 'मुहावरा' हो जाता है।"[1]

'मुहावरा' के इस लक्षण में, प्रथम आधे भाग में बोलचाल को स्पष्ट किया गया है और बाद के आधे भाग में लक्षणा एवं व्यंजना का आश्रय लेने पर बोलचाल के ही 'मुहावरा' हो जाने की बात कही गयी है। किन्तु, 'मुहावरा' की सर्वप्रमुख विशेषता 'बहुप्रयुक्तता' की ओर 'हरिऔध' जी का ध्यान नहीं गया है।

पण्डित रामदहिन मिश्र ने भी 'मुहावरा' का लक्षण किया है। उनके अनुसार "मुहावरे का लक्षण यह हो सकता है कि जहाँ जिस रीति से बोलचाल के शब्दों और शब्द-समूहों का ठीक-ठीक प्रयोग करना चाहिए वहाँ उसी प्रकार उनका प्रयोग करना। अर्थात् लिखने-पढ़ने तथा बोलचाल की परिपाटी के अनुकूल लिखना-पढ़ना और बोलना।"[2]

ध्यान से देखने पर ज्ञात हाता है कि मिश्र जी के 'मुहावरा' के लक्षण को ही 'हरिऔध' जी ने 'बोलचाल' कहा है। उनके अनुसार लक्षणा-व्यञ्जना द्वारा अर्थ प्रकट करने पर ही यह बोलचाल 'मुहावरा' बन पाती है।

एक अन्य प्रतिष्ठित हिन्दी-भाषा-मर्मज्ञ श्री हरदेव बाहरी के अनुसार भी हिन्दी ईडियम्स के दो रूप हैं—१. यूसेज़ेज़ और २. ईडियम।[3]

श्री हरदेव बाहरी द्वारा किये गये 'यूसजेज़' और 'ईडियम' के लक्षण से ज्ञात होता है कि उन्होंने हरिऔध जी के 'बोलचाल' और 'मुहावरा' के लक्षणों को ही, अंग्रेजी भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया है। अपनी ओर से कोई नयी बात उन्होंने नहीं कही है।

डॉ० ओम्‌प्रकाश गुप्त ने 'मुहावरा' शब्द की मीमांसा बहुत विस्तार से की है। पण्डित रामदहिन मिश्र, श्री हरिऔध, श्री ब्रह्मस्वरूप शर्मा 'दिनकर', श्री रामचन्द्र वर्मा, श्री गयाप्रसाद शुक्ल और श्री उदयनारायण तिवारी आदि हिन्दी के विद्वानों के साथ ही उन्होंने 'ग़यासुल्लुगात', और 'फरहंग आसफ़िया' आदि उर्दू-कोषों तथा

१. बोलचाल, भूमिका, पृ० १३० तथा १३५-१३६।
२. हिन्दी-मुहावरे, पृ० ९।
३. हिन्दी सीमेण्टिक्स, पृ० २५६।

'हिन्दी-विश्वकोष', 'हिन्दी शब्द-सागर' आदि अनेक हिन्दी-कोषों से भी 'मुहावरा' का लक्षण उद्धृत किया है। अंग्रेजी के 'ईडियम' को 'मुहावरा' का पर्याय मानते हुए, उन्होंने 'ईडियम' के लक्षण पर भी प्रकाश डाला है। ईडियम के सम्बन्ध में—'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका', वेबस्टर की 'इण्टरनेशनल डिक्शनरी', 'शार्टर आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी; जे० ई० वारसेस्टर की 'डिक्शनरी ऑफ दी इंगलिश लैंगुएज़', इम्पीरियल डिक्शनरी', सर जेम्स मरे की 'न्यू इंगलिश डिक्शनरी' तथा एच० डब्ल्यू० फाउलर के 'मार्डन इंगलिश यूसेजे.ज़', मेकगार्डी के 'इंगलिश ईडियम्स' और 'लोगन पीयरसल स्मिथ', के 'वर्ड्स् एण्ड ईडियम्स' आदि अनेक ग्रन्थों को भी उन्होंने उद्धृत किया है।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों एवं विद्वानों के 'मुहावरा' और 'ईडियम'—सम्बन्धी विचारों का मन्थन करने पर डॉ० ओम्प्रमाश गुप्त ने 'मुहावरा' का जो लक्षण किया है, वह इस प्रकार है :—

"प्रायः शारीरिक चेष्टाओं, अस्पष्ट ध्वनियों, कहानी और कहावतों अथवा भाषा के कतिपय विलक्षण प्रयोगों के अनुकरण या आधार पर निर्मित और अभिधेयार्थ से भिन्न कोई विशेष अर्थ देने वाले किसी भाषा के गठे हुए रूढ़ वाक्य, वाक्यांश अथवा शब्द इत्यादि को 'मुहावरा' कहते हैं।"

डॉ० गुप्त की इस परिभाषा का प्रथम आधा भाग मुहावरों की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखता है। शेष आधे भाग में "अभिधेयार्थ से भिन्न कोई विशेष अर्थ देने वाले किसी भाषा के गठे हुए वाक्य" आदि को मुहावरा कहा गया है। हरिऔध जी के 'बोलचाल या रोज़मर्रा' का इसमें ग्रहण नहीं होता है। किन्तु, बोलचाल के मुहावरा होने में कोई सन्देह नहीं है। अतः 'मुहावरा' का वही लक्षण उपयुक्त है, जिसमें उसके दोनों रूपों—'बोलचाल' और मुहावरा' का ग्रहण हो जाय।

उपर्युक्त लक्षणों को ध्यान में रखते हुए और स्वयं मुहावरों के स्वरूप को देखते हुए, हमारे विचार से तो अर्थविशेष की अभिव्यक्ति के लिए वह सर्वोपयुक्त शब्द या शब्द-समूह, जो बहुप्रयुक्त होने के कारण, दूसरे शब्दों या शब्द-समूहों से अधिक लोकप्रिय हो गया हो, मुहावरा कहलाता है।

'मुहावरा' के स्थान पर हमने 'वाग्योग' शब्द को स्वीकार किया है। अतः 'मुहावरा' की अपनी परिभाषा को ही 'वाग्योग' की परिभाषा बनाते हुए हम उसे इस रूप में प्रस्तुत करना चाहेंगे :—

संस्कृत-भाषा में होने वाले अभ्यस्त प्रयोग एवं बहुप्रयोग के कारण रूढ़ हुए विलक्षण प्रयोग ही 'वाग्योग' हैं। यथा :—अथ किम्, किम्बहुना, ततस्ततः, शान्तं पापम्, मुखमवलोकनम्, लोचनयोः मीलनम्, मार्गदर्शनम्, जलाञ्जलिदानम्, चक्षुषोविशालीकरणम्, काष्ठप्रदानम्, कूपमण्डूकः, दीर्घसूत्री, ढपोलशङ्खः, शरान् वर्षति, आज्ञां पालयति, मदस्य उन्मूलनम्, दर्पस्य प्रशमनम्, कर्णं दा, का गतिः इत्यादि।

यहाँ अभ्यस्त प्रयोगों से तात्पर्य, भाषा में होने वाले उन प्रयोगों से है, जो भाषण अथवा लेखन में बार-बार होते हैं। ये अभ्यस्त प्रयोग किसी व्यक्ति के भी हो सकते हैं, किसी रचना के भी हो सकते हैं और किसी साहित्यिक विधा के भी हो सकते हैं।

वाग्योग के लिए आवश्यक है कि किसी विशिष्ट शब्द अथवा-शब्द समूह का किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयोग बार-बार हो, चाहे एक व्यक्ति के द्वारा और चाहे अनेक व्यक्तियों के द्वारा। प्रथम बार हुए किसी विलक्षण प्रयोग पर मुग्ध होकर, जब उसे बार-बार दुहराया जाता है, तो वह प्रयोग 'वाग्योग' बन जाता है। बाद में उसकी विलक्षणता को भी लोग भूल जाते हैं और तब रूढि के रूप में, स्वचालित यन्त्र की क्रिया के समान भाषण और लेखन में उस 'वाग्योग' का प्रयोग होने लगता है। यही कारण है कि वाग्योगों के प्रयोग से भाषा में सम्प्रेषणीयता बढ़ जाती है।

—:o:—

संस्कृत-वाग्योग

संस्कृत-वाग्योगों का कोई संकलन अथवा कोष अभी तक नहीं हुआ है। संस्कृत-रचना की शिक्षा देने वाले ग्रन्थों में ही कुछ ऐसे शब्द, शब्द-समूह और वाक्य दिखलायी पड़ जाते हैं, जिनकी समानता हम संस्कृत के वाग्योगों से कर सकते हैं। संस्कृत में वाग्योगों का कोई संकलन न होने का सबसे बड़ा और सर्वप्रथम कारण तो यही है कि संस्कृत के पठन-पाठन एवं लेखन की जो रीति आज से हजारों वर्ष पूर्व थी, वही ज्यों की त्यों, अभी तक चली आ रही है। पहले, संस्कृत के अध्यापक एवं छात्र व्याकरण, दर्शन, साहित्यशास्त्र एवं साहित्य आदि जैसे पढ़ते थे, अब भी वैसे ही पढ़ते हैं। संस्कृत-साहित्य की समीक्षा के जो मानदण्ड सैकड़ों वर्ष पहले बने थे, वही मानदण्ड अभी तक बने हुए हैं। टीकाओं और व्याख्याओं की जो शैली हजारों वर्ष पूर्व थी, वही शैली आज भी विद्यमान है। अतः, स्वाभाविक है कि व्याकरण, अलंकार, छन्द, गुण, रीति वृत्ति (शब्द-शक्ति) एवं रस आदि को छोड़कर संस्कृत-समीक्षकों का ध्यान, 'मुहावरा' अथवा idiom अथवा 'वाग्योग' जैसे किसी नवीन तत्त्व की ओर कभी गया ही नहीं है।

हिन्दी-समीक्षा ने भी, अधिकांश में संस्कृत-समीक्षा का ही अनुसरण किया है। किन्तु, पाश्चात्य प्रभाव के कारण, चूंकि हिन्दी साहित्य में गद्य (कहानी-उपन्यास-निबन्ध) भी अधिक लिखा गया; अतः, साहित्य-समीक्षा में भी उनका ध्यान

भाषा की मुहावरेदारी की ओर चला गया है। हिन्दी में 'मुहावरों' की चर्चा सन् १९५० ई० के आस-पास पूरे जोर-शोर पर थी। पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने मुहावरों से ओतप्रोत, 'बोलचाल' शीर्षक काव्यग्रन्थ उन्हीं दिनों लिखा था। उसी की भूमिका में, हरिऔध जी ने मुहावरों के नाम और स्वरूप आदि पर भी कुछ प्रकाश डाला था। हरिऔध जी के काल में ही 'हिन्दी-मुहावरे और 'हिन्दी-मुहाविरे' आदि नामों से हिन्दी भाषा के मुहावरों के कुछ संकलन भी हो गये थे। तथापि हिन्दी में, 'मुहावरा' के लिए अन्य कोई शब्द विद्वानों को मान्य नहीं हो सका था, यद्यपि इस ओर विद्वानों का ध्यान अवश्य चला गया था। हिन्दी के सन्दर्भ में ही, हिन्दी-विद्वानों का ही ध्यान सर्वप्रथम इस ओर गया कि संस्कृत में मुहावरे हैं कि नहीं। संस्कृत में 'मुहावरा' का पर्यायवाची कोई उपयुक्त शब्द, क्योंकि, उन विद्वानों को नहीं मिल सका, अतः उन्होंने बड़े विश्वास के साथ यह घोषणा कर दी कि संस्कृत में 'मुहावरे' नहीं हैं। जब एक बार यह घोषणा हो गयी तो फिर उसकी पुष्टि के लिए तर्क भी खोजे जाने लगे। और, संस्कृत में 'मुहावरों' के न होने का सबसे बड़ा कारण यह बतलाया गया कि संस्कृत में यथार्थ की अपेक्षा आदर्श का चित्रण ही अधिक हुआ है। उसमें समाज के उच्च वर्ग के ही नायक-नायिकाओं का चित्रण है। उसका क्षेत्र भी सीमित है। अतः, आदर्शवाद और कृत्रिमता के कारण उसकी भाषा भी साहित्यिक एवं कृत्रिम है। इस प्रकार के पात्र अपनी भाषा में, अपने सम्वादों में 'मुहावरों' का प्रयोग नहीं करते। मुहावरों का प्रयोग निम्न वर्ग के चरित्रों और सम्वादों में ही होता है। इसलिये वाल्मीकि और कालिदास आदि कवियों की रचनाओं में 'मुहावरों' का प्रयोग नहीं हुआ है।[1]

स्पष्ट है कि 'मुहावरा' शब्द के 'अरबी' भाषा का शब्द होने के कारण और हिन्दी की ही विशेष शैली उर्दू में 'मुहावरों' के अधिक प्रयोग के कारण तथा उर्दू-साहित्य का सम्बन्ध जनसामान्य से होने के कारण, तुलनात्मक दृष्टि से संस्कृत के प्रति बने हुए एक विशेष दृष्टिकोण से ही हिन्दी विद्वानों ने यह मान लिया कि संस्कृत में मुहावरे हैं ही नहीं। इस अस्वीकृति का कारण, मनोवैज्ञानिक था, वास्तविक नहीं। वस्तुतः, परम्पराओं से, संस्कृत से जुड़े हुए होने पर भी ये विद्वान् हिन्दी का जीवन जी रहे थे। वे स्वयं उर्दू भाषा के प्रभाव से अछूते नहीं थे। यही कारण है कि 'वाग्योग' शब्द के होते हुए भी, 'मुहावरा' शब्द ने ही उन्हें अधिक प्रभावित किया और इसी के समर्थन में उन्होंने संस्कृत में मुहावरों के न होने की भी घोषणा कर दी।

आगे चलकर, हरिऔध जी ने तथा डॉ० ओम्प्रकाश गुप्त ने यह तो स्वीकार

१. दे० हिन्दी-मुहाविरे, लेखक ब्रह्मस्वरूप शर्मा दिनकर, भूमिका में गयाप्रसाद शुक्ल के 'दो शब्द'।

किया कि संस्कृत में मुहावरा-जैसे प्रयोग हैं;[१] किन्तु 'मुहावरा' शब्द के स्थान पर 'वाग्योग' शब्द को वे भी 'अभिषिक्त' नहीं कर सके। इस विषय में संस्कृत-विद्वानों की ओर से भी फिर कोई प्रयास नहीं हुआ। सम्भव है, हरिऔध जी-जैसे विद्वानों के विचार भी उनकी दृष्टि में न आये हों। इसी सीमित एवं संकुचित स्वभाव के कारण अभी तक भी संस्कृत-वाग्यगों की ओर विद्वानों का न तो ध्यान ही गया है और न ही इस क्षेत्र में कोई कार्य हुआ है।

हमारे विचार से संस्कृत में 'वाग्योगों' का प्रयोग उर्दू और संस्कृत की अपेक्षा भी अधिक हुआ है। अन्तर केवल यह है कि उर्दू-हिन्दी-मुहावरों में जहाँ भाषा के नियमों का अथवा व्याकरण का उल्लंघन हुआ है या होता है, वहाँ संस्कृत-वाग्योग व्याकरण के नियमों से सदैव बँधे हुए रहे हैं। वैदिक साहित्य में मुहावरों की संख्या अधिक है, ऐसा हिन्दी के विद्वान् भी मानते हैं।[२] यह भी ज्ञात ही है कि संस्कृत की अपेक्षा वैद्कि भाषा में वैकल्पिकता अधिक थी। शब्दों के अनेक रूप थे और एक ही भाव की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती थी। संक्षेप में, वैदिक भाषा पर व्याकरण का उतना नियन्त्रण नहीं था, भाषा के प्रयोग में स्वच्छन्दता थी और इसीलिए बहुत हल्के-फुल्के ढंग से लोग अपनी बात को कह देते थे। लगभग ऐसी ही स्थिति, संस्कृत के बाद के और विशेषत: आधुनिक भाषाओं के प्रयोग में भी दिखलायी पड़ती है। अर्थात् स्वभाव की दृष्टि से वैदिक भाषा और आधुनिक भाषाओं में अधिक समानता है। इसलिए कुछ विद्वानों को हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में 'मुहावरे' अधिक दिखलायी पड़ते हैं। किन्तु, संस्कृत भाषा पर व्याकरण का पूर्ण नियन्त्रण है; अत:, उसमें स्वच्छन्द वैकल्पिक प्रयोगों के लिए कोई स्थान नहीं है। परिणामस्वरूप, विद्वानों को संस्कृत में मुहावरों का अभाव प्रतीत होता है।

यहाँ, हम इस तथ्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे कि व्याकरण और वाग्योगों अथवा मुहावरों में कोई विरोध नहीं है। बोलचाल अथवा सम्भाषण पर व्याकरण का नियन्त्रण कम रहता है और इसीलिए सम्भाषण को वाग्योगों की प्रयोगशाला कहा जाना चाहिए। वाग्योगों का जन्म वहीं होता है, वहीं उनमें परिष्कार होता है, वहीं से लेकर लेखक और साहित्यकार उनका प्रयोग अपनी रचनाओं में करते हैं, उन्हीं प्रयोगों पर व्याकरण के नियम बनते हैं और तब वही प्रयोग व्याकरणानुमोदित 'वाग्योग' बन जाते हैं। संस्कृत के सभी वाग्योग इसी कोटि के हैं।

संस्कृतज्ञ जानते हैं कि वैदिक भाषा में आत्मनेपद और परस्मैपद प्रयोग में कोई विशेष नियम नहीं था। कारक एवं विभक्ति प्रयोगों में भी शिथिलता थी। धातुरूपों

---

१. दे० 'बोलचाल की भूमिका पृ० ११७ तथा मुहावरा-मीमांसा पृ० १४–१५।

२. दे० हिन्दी सीमेण्टिक्स, पृ० २५, मुहावरा-मीमांसा, पृ० २१५।

एवं शब्दरूपों में अनेकरूपता थी, आदि-आदि। पाणिनि ने भाषागत सभी प्रयोगों को व्याकरण के ढाँचे में ढाला और प्रत्येक अपवाद को भी नियम का रूप दे दिया। इस प्रकार बोलचाल में, प्रयोग आने वाले सभी अपवाद, जो विलक्षण प्रयोग होने के कारण वाग्योग ही थे, व्याकरण-समर्थित वाग्योग हो गये। पाणिनि के अनेक सूत्र केवल इसीलिए प्रादुर्भूत हुए हैं कि प्रत्येक विलक्षण प्रयोग अर्थात् वाग्योग को भी व्याकरण की सीमा में लाना था और भाषा को एकरूपता प्रदान करनी थी। इस दृष्टि से आत्मनेपद, परस्मैपद का नियम, कारक-विभक्तियों एवं उपपद-विभक्तियों के नियम—ये सभी संस्कृत के वाग्योग ही हैं। पहले इन प्रयोगों में निश्चय ही विलक्षणता रही होगी, जो बाद में समाप्त हो गयी है। **दास्या संयच्छते कामुकः, गां दोग्धि पयः, भस्मी करोति, पदं करोति, महीं भुनक्ति** आदि में विलक्षणता के कारण अब भी वाग्योगात्मकता विद्यमान है।

वस्तुतः, वाग्योगों के प्रयोग की दृष्टि से भाषा का विवेचन करना तथा शब्द-शक्तियों की दृष्टि से भाषा का विवेचन करना—ये दोनों बातें भिन्न-भिन्न हैं। यह ठीक है कि प्राचीन समीक्षा में शब्दशक्तियों की दृष्टि से लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ—प्रधान काव्य को उत्तम माना जाता था। वह अब भी उत्तम ही है। किन्तु, जब हम आधुनिक दृष्टि से वाग्योगों के आधार पर साहित्य की समीक्षा करते हैं, तो यह कहना उचित नहीं है कि संस्कृत में लक्षणा—व्यंजना ही होती है, वाग्योग नहीं होते। साहित्य-समीक्षा अथवा भाषा-समीक्षा के लिये उपलब्ध एक नये दृष्टिकोण को हमें केवल इसीलिए अमान्य नहीं ठहरा देना चाहिए कि वह दृष्टिकोण हमें पहले उपलब्ध नहीं था। लक्षणा-व्यंजना के साथ वाग्योग का कोई विरोध नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि लक्ष्यार्थ-व्यंग्यार्थ का सम्बन्ध केवल शब्दार्थ से है, जबकि वाग्योग का सम्बन्ध तात्पर्यार्थ से है। तात्पर्य की दृष्टि से वाग्योग एक इकाई होता है।

संस्कृत में वाग्योगों की पहचान, हिन्दी की आधार पर नहीं हो सकती। संस्कृत संयोगात्मक भाषा है, हिन्दी वियोगात्मक है। हिन्दी में वाग्योग प्रायः नान्त रूपों में, जैसे आँख मारना, मुँह भरना, सिर पर चढ़ना, कान फोड़ना आदि रूपों में मिलते हैं। प्रायः संज्ञा और क्रिया मिलकर शब्द-समूह के रूप में 'वाग्योग' में प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत में ऐसे शब्द-समूह प्रायः कम ही दिखलायी पड़ते हैं। अधिकांश स्थलों पर संज्ञा और कृदन्त क्रिया को मिलाकर समास कर दिया जाता है। यथा—बद्धपरिकरः, उत्फुल्ललोचनः, रक्तनेत्रः आदि-आदि। इस प्रकार के समस्तरूपों में वाग्योगों को पहचानना कठिन हो जाता है। दूसरे मुखम् अवलोकयति, पन्थानं पश्यति, काष्ठं प्रदाति आदि वाग्योगों में भी तिङन्त क्रियापदों के कारण उतनी ही सरलता से वाग्योग को नहीं जाना जा सकता, जैसे हिन्दी में 'मुख देखना' या 'रास्ता देखना' आदि को पहचान लिया जाता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अन्य भाषाओं की भाँति ही संस्कृत भाषा भी वाग्योगों से परिपूर्ण है। वैदिक वाङ्मय से लेकर आधुनिक संस्कृत-साहित्य

तक वाग्योगों का प्रयोग संस्कृत में निरन्तर होता रहा है। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं:—

केवलाघो भवति केवलादी।	(ऋ० १०, ११७, ६)
अयं मे हस्तो भगवान्।	(ऋ० १०, ६०, १३)
अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः।	(ऋ० १२, ८५, २३)
माऽहिर्भूर्मा पृदाकुः।	(यजु० ६, १२)
जिह्वाया अग्रे मधु मे।	(अथर्व० १, ३४, २)
असंतापं मे हृदयम्।	(अथर्व० १६, ३, ६)
आक्राम पर्वताधि पर्वतम्।	(अथर्व० १५, २३, ५)
कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।	(अथर्व० ७, ५२, ८)
तरति शोकम् आत्मवित्।	(छान्दो० उप० ७, १३)
ऋष्यशृङ्गं पुरस्कृत्य।	रामा० बाल० १४.२.
अभ्रकूटाश्च दृश्यन्ते।	,, ,, १४. १५.
दिवसे-दिवसे।	,, ,, १४. २०.
इमं देशं कुरु निष्कण्टकं पुनः।	,, ,, २४. ३१.
भिद्येरन् दर्शनादस्या भीरूणां हृदयानि च।	,, ,, २६. १०.
उद्यम्य बाहुं गर्जन्ती राममेवाभ्यधावतः।	,, ,, २६. १३.
शिलावर्षं महत् तस्या शरवर्षेण राघवः।	,, ,, २६. १७.
अन्तर्धानं गता यक्षी मोहयन्ती स्वमायया।	,, ,, २६. १६.
अश्मवर्षं विमुञ्चन्ती।	,, ,, ३४. १७.
शुष्यतीव च मे कण्ठः।	,,अयोध्या० ६६. १६
राजा लोकान्तरं गतः।	,, ,, १००, ६.
शिरश्चिच्छेद: रघुनन्दनः।	,, अरण्य० २६. २०.
न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति।	म० भा० वन० ३१. ६.
शूरबाहुषु लोकोऽयं लम्बते।	,, शान्ति० ६६, १७.
अन्तो नास्ति पिपासायाः।	,, वन० २. ४६.
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।	गीता० २. ४६.
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्।	मनु० ४. १३६.
संकल्पमूलः कामो वै।	,, २. ३.

ऊपर स्थालीपुलाक न्याय से वाग्योगों को प्रस्तुत किया गया है। वैदिक वाङ्मय, रामायण और महाभारत के बाद के संस्कृत-साहित्य में भास, कालिदास, शूद्रक, भवभूति आदि की रचनाओं में वाग्योगों का प्रयोग निरन्तर हुआ है।

—:o:—

भास के नाटकों में वाग्योग-बाहुल्य

वाग्योग-सम्बन्धी सैद्धान्तिक विचारों के उपरान्त, और आगे के अध्यायों में किये जाने वाले वाग्योगों के विवेचन से पूर्व, यहाँ भास के नाटकों से हम कुछ ऐसे वाग्योग-बहुल स्थल उद्धृत करना चाहते हैं, जिन्हें देखने पर, पाठकों को संस्कृत में वाग्योगों के होने का विश्वास भी हो जाय तथा भास के नाटकों में वाग्योगों की बहुलता की ओर भी उनका ध्यान चला जाय। भास के सभी वाग्योगों का विवेचन हम आगे करेंगे; अतः, यहाँ वाग्योगात्मक अंशों को केवल उद्धृत करना ही पर्याप्त है।

१—कृष्ण की ओर से दूत बनकर घटोत्कच धृतराष्ट्र के पास जाता है। वहाँ उपस्थित शकुनि पाडवों पर कुछ व्यंग्य कर देता है। इस पर घटोत्कच क्रुद्ध हो जाता है और कहता है कि हे शकुनि, यह जुआ नहीं है, युद्ध है; तुम तैयार हो जाओ। तब, घटोत्कच को इस प्रकार क्रुद्ध हुआ देखकर दुर्योधन कहता है :—

भो भोः ! **प्रकृतिं गतः** ।
क्षिपसि, वदसि रूक्षं लङ्घयित्वा प्रमाणं
न च गणयसि किञ्चिद् व्याहरन्दीर्घहस्तः ।
यदि खलु तव **दर्पो** मातृपक्षोग्ररूपो
वयमपि खलु **रौद्रा** **राक्षसोग्रस्वभावाः** ॥—दूतघटोत्कचम्, पृ० ३७

प्रस्तुत उद्धरण में '**भो भोः**' यह अभ्यस्त प्रयोग होने के कारण वाग्योग है। शेष सभी **स्थूलाक्षर** अंश अपने लक्ष्यार्थ-व्यंग्यार्थ रूप तात्पर्य के कारण वाग्योगों की कोटि में परिगणित होते हैं। इनका विवेचन हम यथास्थान करेंगे।

२—राजा दुर्योधन अनुभव कर रहा था कि उसके असंतोष के कारण ही उसके परिवार का एवं मित्रों का विनाश हो गया है। तभी क्रोधित हुआ अश्वत्थामा पाण्डवों को नष्ट करने का निश्चय करता है। तब, और अधिक विनाश की आशंका करके दुर्योधन अश्वत्थामा को रोकता है :—

मा मा भवानेवम्।
गतं धात्र्युत्सङ्गं सकलमभिसिक्तं नृपकुलं
गतः कर्णः स्वर्गं निपतिततनुः शन्तनुसुतः।
गतं भ्रातॄणां मे शतमभिमुखं संयुगमुखे
वयं **चैवंभूता** गुरुसुत ! **धनुर्मुञ्चतु** भवान्।

—उरुभङ्गम्, पृ० ५४।

अन्य वाग्योगों के साथ ही यहाँ गम् धातु का वाग्योगात्मक प्रयोग ध्यान देने योग्य है।

३—प्रस्तुत उद्धरण में राम ने, युद्ध करते हुए वाली के रौद्र रूप का वर्णन किया है। देखिए :—

"एष एष वाली,
सन्दष्टोष्ठश्चण्डसंरक्तनेत्रो
मुष्टिं कृत्वा गाढमुद्वृत्तदंष्ट्रः।
गर्जन् भीमं वानरो भाति युद्धे
संवर्ताग्निः सन्दिधक्षुयथैव ॥" —अभिषेकनाटकम्, पृ० ११।

४—मधूक ऋषि का शाप वज्रबाहु बन गया है। कंस के घर पहुँचकर वह कहता है कि मैं तुम्हारे हृदय में प्रवेश करने के लिए आया हूँ। कंस कहता है कि ऐसा नहीं हो सकता :—

"असम्भाव्यमर्थं प्रार्थयसि।
सौवर्णकान्ततरकन्दरकूटकुञ्जं
मेरुं न कम्पयति वायसपक्षवातः।
हास्योऽसि भोः! समकरक्षुभितोर्मिमालं
पातुं य इच्छसि कराञ्जलिना समुद्रम् ॥"

—बालचरितम्, पृ० ३४।

यहाँ वाक्यों का प्रयोग वाग्योगों के रूप में हुआ है।

५—नायक अविमारक कुरङ्गी से प्रेम करता है, किन्तु अभी तक वह उससे मिल नहीं पाया है। प्रस्तुत उद्धरण में वह स्वयं अपनी विरह-दशा का वर्णन कर रहा है। देखिए :—

"अहो बलमनङ्गस्य। कुतः,
दृष्टिस्तदाप्रभृति नेच्छति रूपमन्यद्
बुद्धिः प्रहृष्यति विषीदति च स्मरन्ती।
पाण्डुत्वमेति वदनं तनुतां शरीरं
शोकं व्रजामि दिवसेषु निशासु मोहम् ॥"

—अविमारकम्, पृ० ३२।

अन्य वाग्योगों के साथ यहाँ 'इण्' और 'व्रज्'—इन दोनों गत्यर्थक धातुओं से बने वाग्योगों का प्रयोग भी हुआ है।

६—सम्भाषण में वाग्योगों की संख्या बढ़ जाती है। कुरङ्गी के प्रति अविमारक का यह कथन इसका प्रमाण है। यथा :—

"न त्वं प्रिये! मम नवासि मनोभियोगात्
किं कम्पसे पवनवेगहता लतेव।

भद्रे ! भयं त्यज, कुरुष्व मयि प्रसादं
किं वा प्रलप्य बहुधा शरणागतोऽस्मि ॥"

—अविमारकम्, पृ० ८२ ।

वाग्योगों के प्रयोग से होने वाला भाषा का प्रवाह भी यहाँ देखते ही बनता है ।

७—एक अन्य स्थल पर प्रेमी अविमारक ने अपनी मनोदशा का वर्णन इस प्रकार किया है :—

"कन्यापुरात् कथमपीह विनिर्गतं मे
भाग्यावशेषमवलम्ब्य शरीरमात्रम् ।
अद्यापि तन्मम मनो न तु मामुपैति
नावेक्षते मयि तथा प्रियावरुद्धम् ॥" —अविमारकम्, पृ० ९० ।

८—एक अन्य प्रेमी राजा उदयन की दशा का वर्णन भी देखिए । वासवदत्ता को मरा हुआ जानकर उदयन अत्यधिक दुःखी होता है । जब विदूषक उसे धैर्य बँधाता है, तो राजा कहता है :—

"दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः
स्मृत्वा-स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम् ।
यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह बाष्पं
प्राप्ताऽऽनृण्या याति बुद्धिः प्रसादम् ॥"

--स्वप्नवासवदत्तम्, पृ० १०१ ।

९—यह दरिद्र चारुदत्त की उक्ति है, जिसमें उसने 'जीते जी मर जाने' की बात कही है :—

"सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते
यथान्धकारादिव दीपदर्शनम् ।
सुखात्तु यो याति दशां दरिद्रतां
स्थितः शरीरेण मृतः स जीवति ॥" —चारुदत्तम्, पृ० १४ ।

१०—दरिद्रता के कारण पुरुष की क्या दशा हो जाती है उसका वर्णन भी यहाँ देखिए :—

"दारिद्र्यात् पुरुषस्य बान्धवजनो
वाक्ये न सन्तिष्ठते,
सत्त्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः
कान्तिः परिम्लायते ।
निर्वैरा विमुखी भवन्ति सुहृदः
स्फीता भवन्त्यापदः
पापं कर्म च यत् परैरपि कृतं
तत्तस्य सम्भाव्यते ॥" —चारुदत्तम्, पृ० १६ ।

११—अन्धकार का, यह वाग्योगमय वर्णन भी देखिए :—

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि
वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव
दृष्टिर्निष्फलतां गता ।।" —बालचरितम्, पृ० १२ ।
—चारुदत्तम् पृ० ३० ।

निश्चित अर्थ में निश्चित शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग को यदि वाग्योग माना जाय तो भास की रचनाओं में प्रयुक्त होने वाला यह पूरा श्लोक ही एक वाग्योग है क्योंकि भास की दो रचनाओं में इसका प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है ।

१२—अन्त में मन के मौजी विदूषक का यह वाक्य देखिए :—

"आकण्ठमात्रमशित्वा चत्वरवृषभ इव मोदकखाद्यैः रोमन्थायमानो दिवसं क्षिपामि ।।" —चारुदत्तम्, पृ० ११ ।

यहाँ विदूषक ने अपनी दिनचर्या और आरामतलबी पर प्रकाश डाला है । एक साथ, अनेक वाग्योगों के प्रयोग से भाषा यहाँ प्रवाहपूर्ण होने के साथ ही पात्र और परिस्थिति के बहुत ही अनुरूप हो गयी है ।

—:o:—

द्वितीय अध्याय : शरीराङ्ग-सम्बन्धी वाग्योग

शरीराङ्गों से सम्बन्धित वाग्योग

सभी भाषाओं के वाग्योगों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक भाषा में शरीर के विभिन्न अङ्गों से सम्बन्ध रखने वाले वाग्योगों की संख्या ही अधिक है। शरीर के अन्य अङ्गो की तुलना में भी नेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले वाग्योग अधिक हैं। संस्कृत भाषा भी इसका अपवाद नहीं है।

अतः, वाग्योगों के प्रस्तुत अध्ययन में भी, हम नेत्रों से सम्बन्धित वाग्योगों का विवेचन ही सर्वप्रथम करेंगे। तत्पश्चात् शरीर के अन्य अङ्गों के वाग्योगों का और तदुपरान्त क्रिया आदि से सम्बन्ध रखने वाले, अन्य प्रकार के वाग्योगों का विवेचन करेंगे।

नेत्रसम्बन्धी वाग्योग

संस्कृत में, आँख के लिए लोचनम्, नयनम्, नेत्रम्, ईक्षणम्, चक्षुः, अक्षि, दृक् तथा दृष्टिः—इन आठ शब्दों का प्रयोग होता है।[1] पलक और भौं को भी आँखों के ही साथ रखना उचित है। भास ने अपने नाटकों में इन सभी से सम्बन्धित वाग्योगों का प्रयोग किया है। 'भासनाटकचक्रम्' में संकलित नाटकों के क्रम से ही, उनमें प्रयुक्त नेत्र तथा नेत्रांगों वाले वाग्योगों का संकलन हम इस प्रकार कर सकते हैं :—

उद्धरण	सन्दर्भ पृष्ठ	हिन्दी-अर्थ
सम्भ्रमोत्फुल्ललोचना (सा)।	दूतवा० १०	आँखों का खिलना
करोति अपाङ्गविक्षेपैः शान्तामर्षं वृकोदरम्।	दूतवा० ११	आँख मारना
वाष्परुद्धनयनाः (पश्यन्तु)।	दूतवा० ३५	आँख रुँधना
यो मे नेत्रोत्सवः स्वयम्।	उरुभ० ३६	नेत्रों का उत्सव होना
मच्चक्षुष्पथमासाद्य सजीवो नैव यास्यति।	अभषे० ११	निगाह पड़ना
निद्रां मे निशि विस्मरन्ति नयनानि आलोक्य सीताननम्।	अभिषे० ६१	आँखो का नींद भूलना।
क्रोधविस्फारिताक्षाः।	अभिषे० १०५	आँख फाड़ना

१. देखिए, अमरकोष, २.७ में नेत्र शब्द।

क्रोधविस्फारितेक्षणः।	अभिषे० १०८	आँख फाड़ना
तीव्रं बाणमवेक्ष्य **रक्तनयनो** मध्याह्नसूर्यप्रभः।	अभिषे० १११	आँख लाल होना
यावदहमपि शयनमुपगम्य **नयनव्याक्षेपं करोमि।**	बालच० ३५	पलक झपकना
तेन प्रहारेणोत्क्षिप्तचक्षुः सोऽपि मृतः।	बालच० ५५	आँखें पलट जाना या आँख निकल जाना
परिवृत्तनेत्रः (कंसः पतितः)।	बालच० ९५	,, फिरना
नयनपात्रपेयं वपुः।	अविमा० ४०	आँखों से पीना
दृष्टिर्न तृप्यति।	अविमा० ७९	आँखों का तृप्त न होना
कामार्णवास्याद्य तु दृष्टपारं **चेक्रीड्यतां मे सुखमक्षियुग्मम्।**	अविमा० ८०	आँखों का क्रीड़ा करना
कन्यापुरप्रासादमासाद्य **दृष्टि-र्विलोभनं** करिष्यावः।	अविमा० १२१	आँखों को बहलाना
प्रीत्या भवन्त**मनिमेषमवेक्षितुम्।**	अविमा० १४७	एकटक देखना
प्रज्वलितनेत्रः।	अविमा० १५२	आँखों का दहकना
त्रैलोक्यं दग्धुकामेव **ललाटपुट-संस्थिता भ्रकुटिः।**	प्रतिमा० ३७	भौं चढना
अवलोकितुमपि नेच्छति कुमारः।	प्रतिमा० ९८	देखना भी न चाहना
मैथिलि ! भरतावलोकनार्थं **विशालो क्रियतां** ते **चक्षुः।**	प्रतिमा० १०९	आँखों को फैलाना
रोषादुद्वृत्तनयनः।	प्रतिमा० १४९	आँखें फाड़ना या आँखें चढ़ाना
भरतमवलोकयितुं **विशाली क्रियतां** ते **चक्षुः।**	प्रतिमा० १७५	आँखें फैलाना
भ्रूक्षेपमात्रप्रतीष्टैः	चारुद० १०	भौं चलाना।
वामं खलु मेऽक्षि **स्पन्दते।**	चारुद० ८६.	आँख फड़कना
इयं सा······**दृष्ट्या पिबन्तीव** तिष्ठति।	चारुद० १०८	आँखों से पीना

भास के नाटकों में प्रयुक्त उपरिलिखित २६ वाग्योगों में से एक भी वाग्योग ऐसा नहीं है, जो प्रथम दृष्टि में ही अपनी वाग्योगयोग्यता का परिचय हमें न दे देता हो। एतद्विषयक थोड़ा विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

नेत्रोत्सवः

ऊपर परिगणित वाग्योगों में 'नेत्रोत्सवः' एक महत्त्वपूर्ण वाग्योग है। इसके अर्थ को ध्यान में रखते हुए, हम सर्वप्रथम इसीका विवेचन करेंगे।

हमें नहीं मालूम कि दूसरी किसी भाषा में नेत्रोत्सव-जैसा कोई वाग्योग है कि नहीं, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि संस्कृत में भी, नेत्रों की प्रसन्नता की अभिव्यक्ति के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरा वाग्योग नहीं है।

मानव, स्वभाव से ही उत्सवप्रिय है। उत्सव, एक ऐसा आयोजन है जिससे हमें सदैव प्रसन्नता ही प्राप्त होती है। उस प्रसन्नता की कोई मात्रा भी सीमित नहीं है। हम कह सकते हैं कि उत्सव से हमें अधिक से अधिक प्रसन्नता प्राप्त होती है। वस्तुतः, 'उत्सव' शब्द स्वयं में एक बहुप्रचलित वाग्योग है। इतना प्रचलित कि आज इसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ पर तो हमारा किंचित् भी ध्यान नहीं जाता और हम इसके रूढ़िपरक अर्थ में ही उलझे रह जाते हैं।

उपर्युक्त 'नेत्रोत्सवः' वाग्योग में, नेत्रों के उत्सव से तात्पर्य है—'नेत्रों को अत्यधिक हर्ष देने वाला व्यक्ति'। प्राप्त प्रसंग में राजा दुर्योधन ने, अपने पुत्र के लिए 'नेत्रोत्सव' का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से, निःसंदेह यह एक अभिलषणीय वाग्योग है।

वाग्योग की अनेक विशेषताओं में से एक विशेषता यह है कि वाग्योग के द्वारा लम्बी-चौड़ी बात को भी थोड़े से ही शब्दों में प्रभावशाली ढंग से कहा जा सकता है। हर्षोल्लासमय जीवन की अभिव्यक्ति के लिए 'उत्सव' एक सशक्त वाग्योग है। उत्सव का आयोजन हम जीवन में आनन्द एवं हर्ष का अनुभव करने के लिए ही करते हैं। यह एक विस्तृत आयोजन होता है और इसके अनेक अंग होते हैं। उन सबके सम्मिलित रूप से, अन्ततः हमें हर्ष की ही अनुभूति होती है। ठीक वैसे ही जैसे भाव, विभाव, अनुभाव और अनेक संचारियों से हमें अन्ततः रस की अनुभूति होती है। 'रसानुभूति हो रही है—ऐसा कह देने से ही, जैसे रसविशेष के विभावादि की, सभी की व्यंजना हो जाती है, उसी प्रकार 'उत्सव' कह देने से भी आनन्द के लिए आवश्यक सभी परिस्थितियों की व्यंजना स्वयं ही हो जाती है।

पिता के नेत्रों को हर्ष देने वाले पुत्र के लिए 'नेत्रोत्सव' वाग्योग का प्रयोग भास ने इसी प्रयोजन से किया है कि नेत्रों को हर्ष देने वाले पदार्थ की अभिव्यक्ति के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरा वाग्योग नहीं है।

'नेत्रोत्सवः' वाग्योग का प्रयोग 'नेत्रोत्सवम्' नेत्रोत्सवाय, नेत्रोत्सवे आदि अनेक रूपों में हो सकता है।

विशाली क्रियतां चक्षुः

भास द्वारा प्रयुक्त **'विशाली क्रियतां चक्षुः'** वाग्योग भी अभिव्यक्ति-कौशल की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है।

'प्रतिमानाटकम्' के प्रस्तुत प्रसंग में वनवासिनी सीता अपने स्नेही देवर भरत को देखने के लिए अत्यधिक लालायित है। सीता की इस लालसा को राम भली-भाँति जानते हैं। अतः, भरत के, वन में आने की सूचना मिलने पर राम, सीता से कह उठते हैं :—

"मैथिलि ! भरतमवलोकयितुं **विशालीक्रियतां ते चक्षुः**।"

अर्थात् हे सीते ! भरत को देखने के लिए आँखों को बड़ा करलो (फैला लो)।

अपनी अभिलषित वस्तु या व्यक्ति को, हम अवसर मिलते ही अधिक से अधिक देख लेना चाहते हैं। राम भी सीता से यही कहते हैं कि भरत को देख लेने के इस अवसर का अधिक से अधिक लाभ वह उठा ले।

छोटे पात्र में हम, जैसे थोड़ी ही वस्तु ले पाते हैं, इसी प्रकार सामान्य (बिना फैलाये) नेत्रों से सीता भी भरत को अधिक नहीं देख पायेगी। अतः, अच्छे पति के रूप में, राम का सीता को यह सत्परामर्श है कि वह भरत को देखने के इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए अपनी आँखों को विशाल करले और भरत को देखने के लिए प्रस्तुत हो जाय। इस प्रकार, अधिक बड़े नेत्रों से, भरत को अधिक देख लने पर सीता को अधिक तृप्ति होगी। इसी व्यञ्जना में यहाँ इस वाग्योग की सफलता है।

यहाँ, यह भी द्रष्टव्य है कि स्वयं भास ने इस वाग्योग का प्रयोग 'प्रतिमा-नाटकम्' में ही दो स्थलों पर किया है।

विशाली + कृ से व्युत्पन्न विशाली करोति, विशाली करोतु, विशाली कर्तुम्, आदि अनेक रूपों में इस वाग्योग का प्रयोग सम्भव है।

नयनपात्रपेयम्

तथा **दृष्टचा पिबन्ती**

उपर्युक्त वाग्योगों में '**नयनपात्रपेयम्**' और '**दृष्टचा पिबन्ती**' वाग्योग भी बहुत ही स्पृहणीय हैं।

मनुष्यों को सर्वाधिक तृप्ति का अनुभव, सम्भवतः पीने के पदार्थों से ही होता है। सुन्दर पदार्थों को देख लेने से भी उसी प्रकार की अनुभूति होती है, इसी प्रयोजन के लिए उपर्युक्त दोनों वाग्योगों का प्रयोग भास ने किया है।

मानव की खाने-पीने की मूल प्रवृत्ति ही इस वाग्योग के उद्भव का कारण है तथा मानव का पीने की क्रिया से निकट का सम्बन्ध ही इस वाग्योग के विकास में सहायक हुआ है।

पीने की क्रिया में, पेय पदार्थ शनैः शनैः ओष्ठों से लेकर जिह्वा, तालु, कण्ठ और हृदय आदि को तृप्त करता हुआ जैसे उदर में समा जाता है और तत्काल ही,

सम्पूर्ण शरीर को उससे जैसी तृप्ति मिलती है, उसी प्रकार की अनुभूति, आँखों द्वारा सुन्दर वस्तुओं को देखने से भी होती है। यही बतलाना इस वाग्योग का रहस्य है। 'नेत्रपेयम्' की अपेक्षा भी 'नेत्रपात्रपेयम्' वाग्योग से यह अभिव्यक्ति कितनी सुन्दर हो गयी है, यह ध्यान देने योग्य है।

द्रष्टव्य वस्तु के लिङ्ग, वचन भेद से और कारक-भेद से प्रस्तुत वाग्योग का प्रयोग भी अनेक रूपों में हो सकता है।

इसी के अनुरूप 'श्रोत्रपेयम्' वाग्योग का प्रयोग 'वचः' आदि के साथ भाषा में देखा जाता है।

विभिन्न कवियों ने इस प्रकार के वाग्योगों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है।

दृष्टिर्न तृप्यति
तथा अनिमेषमवेक्षितुम्

नेत्रों से सम्बन्धित वाग्योगों में 'दृष्टिर्न तृप्यति' वाग्योग का तात्पर्य है कि द्रष्टव्य वस्तु इतनी अधिक सुन्दर एवं आकर्षक है कि देखने वाला अपनी दृष्टि को उस वस्तु से पृथक् नहीं कर पा रहा है। दृष्टि के तृप्त न होने से भी तात्पर्य यहाँ द्रष्टा के तृप्त न होने से ही है, जो लाक्षणिक अर्थ है, वाच्यार्थ नहीं है।

दूसरे वाग्योग 'अनिमेषमवेक्षितुम्' में भी द्रष्टव्य वस्तु की सुन्दरता पर ही अधिक बल है। इसके साथ ही देखने वाले की अभिरुचि का संकेत भी इससे मिलता है।

चेक्रीडयतामक्षियुग्मम्
तथा दृष्टिर्विलोभनम्

आँख-सम्बन्धी वाग्योगों में उपर्युक्त दोनों वाग्योग ऐसे हैं, जो रस (शृंगार) की सीमा तक न पहुँचकर मनोरंजन मात्र का ही हल्का-सा स्पर्श कराते हैं। किशोरावस्था एवं युवावस्था में शारीरिक सौन्दर्य के प्रति होने वाले आकर्षण की व्यंजना ही इनसे होती है। साहित्य की अपेक्षा पारस्परिक वाग्व्यवहार के ये अधिक निकट हैं।

अवलोकितुमपि नेच्छति

उपर्युक्त वाग्योगों के विपरीत 'अवलोकितुमपि नेच्छति' वाग्योग में, सम्बन्धित विषय के प्रति द्रष्टा की अरुचि एवं अवहेलना का भाव व्यक्त होता है। 'दृष्टिर्न तृप्यति' और 'अनिमेषमवेक्षितुम्' वाग्योगों के साथ, जब हम 'अवलोकितुमपि नेच्छति' वाग्योग की तुलना करते हैं तो इन वाग्योगों की व्यंजना शक्ति से तो चमत्कृत होते ही है, साथ ही वाग्योगों के प्रयोग से, लेखनशैली में समाविष्ट होने वाली प्रभावोत्पादकता से भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते।

निद्रां विस्मरन्ति नयनानि
तथा नयनव्याक्षेपं करोमि

नेत्रों से ही नींद का भी सम्बन्ध है। अतः पूर्व लिखित वाग्योगों में ही नींद से सम्बन्ध रखने वाले ये दो वाग्योग भी परिगणित हैं।

प्रथम वाग्योग 'निद्रां विस्मरन्ति नयनानि' में जहाँ कारण विशेष से बहुत समय से नींद न आने की व्यंजना है, वहीं द्वितीय वाग्योग 'नयनव्याक्षेपं करोमि' में वक्ता द्वारा, विपरीत परिस्थितियों में भी किसी न किसी प्रकार थोड़ी-सी नींद ले लेने के प्रयास की अभिव्यक्ति हुई है। अवसर पाकर थोड़े-सी नींद लेने के लिए प्रायः 'पलक झपक लूँ' जैसी उक्ति का प्रयोग बोलचाल में देखा जाता है। वैसी ही अभिव्यक्ति के लिए 'नयनव्याक्षेपं+कृ' जैसे वाग्योग का प्रयोग, संस्कृत भाषा में बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

क्रोध को प्रकट करने वाले, शरीर के अंगों में नेत्रों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भास के नाटकों में क्रोध की अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर हुई है और इसका कारण यह है कि भास के अनेक नाटकों की कथावस्तु का सम्बन्ध युद्ध से है। अतः नेत्र-सम्बन्धी ऊपर परिगणित वाग्योगों में से भी अनेक वाग्योग ऐसे हैं, जिनका प्रयोग भास ने क्रोध की व्यंजना के लिए किया है। देखिए :—

क्रोधविस्फारिताक्षाः (राक्षसाः)
क्रोधविस्फारितेक्षणः (सः)
रक्तनयनः (सः)
संरक्तनेत्रः (सः)
प्रज्वलितनेत्रः (सः)
रोषादुद्वृत्तनयनः (सः)

प्रस्तुत वाग्योगों में से क्रोधविस्फारिताक्षः, क्रोधविस्फारितेक्षणः, तथा रोषादुद्वृत्तनयनः—इन तीन वाग्योगों में प्रयुक्त क्रोध एवं रोष शब्दों से स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि इनमें क्रोध से होने वाली आँखों की दशा का वर्णन है। इनमें से भी प्रथम और द्वितीय वाग्योग में केवल इतना ही अन्तर है कि एक में अक्षि शब्द का प्रयोग है। तो दूसरे में अक्षि के स्थान पर ईक्षण शब्द का प्रयोग है। इस प्रकार का शब्द-परिवर्तन, छन्द आदि की विवशता के कारण, वाग्योगों में प्रायः देखा जाता है। किन्तु इससे वाग्योग के स्वरूप पर या उसकी विशेषता में किसी प्रकार की कमी नहीं आती है।

शब्दों में इसी प्रकार का परिवर्तन 'रक्तनयनः' और 'संरक्तनेत्रः' वाग्योगों में भी है, किन्तु दोनों ही स्वरूपतः एक ही वाग्योग हैं। क्रोध की दशा में नेत्रों का लाल हो जाना प्रायः देखा जाता है। शनैः शनैः, प्रयोग में, क्रोध के कारण नेत्र लाल हो गये कहने के स्थान पर 'नेत्र लाल हो गये' ही कहा जाने लगा और इतने से ही क्रोध की दशा की व्यंजना होने लगी।

इसी प्रकार क्रोध के कारण जब क्रोधी व्यक्ति का मुखमण्डल रक्तप्रवाह की अधिकता से तमतमा जाता है, तो उसके नेत्र भी अंगारों की भाँति लाल-लाल हो जाते हैं। साधारण मनुष्य का भी यह अनुभव है कि तपाने से लोहा लाल हो जाता है या जलाने पर काले रंग का कोयला भी दहकता हुआ लाल-लाल दिखलाई देता है। परिणामस्वरूप, उसी उष्णता और जलन के सादृश्य पर लाल नेत्रों को भी उसने प्रज्वलितनेत्र कहना प्रारम्भ कर दिया। प्रयोग की बहुलता से वही विलक्षण प्रयोग 'वाग्योग' बन गया।

क्रोध में, जैसे आँखे लाल हो जाती हैं, वैसे ही आँखे ऊपर को उभरी हुई (फटी हुई) भी दिखलायी पड़ती हैं। इसलिए क्रोध में व्यक्ति आँखे फाड़ता दृष्टि-गोचर होता है। उसी दशा की अभिव्यक्ति के लिए भास ने 'उद्वृत्तनयनः' वाग्योग का प्रयोग किया है।

उत्क्षिप्तचक्षुः (मृतः)

परिवृत्तनेत्रः (पतितः)

क्रोध का परिणाम होता है—युद्ध। युद्ध में शत्रु को पराजित करना होता है। यह पराजय तभी सुनिश्चित होती है, जब शत्रु का वध कर दिया जाय। भास के नाटकों में भी उपरिलिखित वाग्योगों का प्रयोग शत्रु के मारे जाने की व्यंजना के लिए ही किया गया है। अशिक्षित व्यक्ति भी मृत व्यक्ति की सूचना के लिए 'आँखे पलट जाना' या 'आँखे उलट जाना' वाग्योग का प्रयोग करते देखे जाते हैं। वस्तुतः, मृत व्यक्ति के अनेक लक्षणों में से यह एक लक्षण है; शनैः शनैः, अनेक लक्षणों के स्थान पर, संक्षेप से काम लेने के लिए, एक ही लक्षण से व्यक्ति के मृत होने की सूचना दी जाने लगी।

वाष्परुद्धनयनः

क्रोध से युद्ध, युद्ध से मृत्यु और मृत्यु से शोक होता है। शोक प्रकट करने के लिए रोने की क्रिया प्रसिद्ध ही है। अतः भास के नाटकों में, एक वाग्योग ऐसा भी उपलब्ध हुआ है, जिसमें प्रियजन की मृत्यु के कारण रोने वाले लोगों को 'रुदन्तः' न कहकर 'वाष्परुद्धनयनाः' कहा गया है, जो निश्चय ही 'वाग्योगात्मक' प्रयोग है। वस्तुतः साधारण उक्ति (वाग्व्यवहार) और काव्योक्ति (वाग्योग) में यही अन्तर होता है।

क्रोध आदि की व्यंजना के लिए जैसे वाग्योगों का प्रयोग होता है, वैसे ही सम्भ्रम आदि की व्यंजना के लिए भी होता है। क्रोध की दशा की भाँति ही, सम्भ्रम की दशा में भी आँखों में एक विशेष प्रकार का विकार आ जाता है, जिसे 'आँखें फट जाना' या 'आँखें फटी की फटी रह जाना' आदि वाक्यों के द्वारा हिन्दी में भी प्रकट किया जाता है। भास ने, सम्भ्रम में होने वाली नेत्रों की ऐसी ही दशा की

अभिव्यक्ति अधोलिखित वाग्योग द्वारा की है :—

सम्भ्रमोत्फुल्ललोचना (सा)

यहाँ, दुःशासन द्वारा केश खींचे जाने पर होने वाली द्रौपदी की दशा (नेत्रों की दशा) का वर्णन भास ने किया है।

अक्षि स्पन्दते

नेत्र-सम्बन्धी वाग्योगों में से अक्षि-स्पन्दन या नेत्र-स्पन्दन-जैसे वाग्योग का प्रयोग अनेक कवियों ने किया है। साधारण दृष्टि से देखने पर 'नेत्र-स्पन्दन' एक तथ्य है। किन्तु, जब इसका प्रयोग केवल तथ्य-कथन के लिए न होकर, सम्भावित हानि या लाभ की व्यंजना के लिए होता है, तब 'नेत्रस्पन्दन' वाग्योग की योग्यता प्राप्त कर लेता है। इसके साथ जब कोई प्रयोक्ता 'दक्षिण' अथवा 'वाम' शब्द का भी प्रयोग करता है तो इस वाग्योग की व्यंजना भी सामान्य न रहकर विशेष हो जाती है।

भास ने भी भविष्य में होने वाली हानि की व्यंजना के लिए ही 'वामं···अक्षि स्पन्दते' वाग्योग का प्रयोग किया है।

चक्षुष्पथमासाद्य

दृष्टि के स्थान पर चक्षुष्पथ और श्रवण (श्रुति) के स्थान पर श्रवणपथ-जैसे वाग्योग संस्कृत-शैली की अपनी विशेषता हैं। दृष्टि की अपेक्षा 'चक्षुष्पथ' में दूर तक देख सकने और थोड़ा-सा भी दिखलाई पड़ जाने की व्यंजना में ही इस वाग्योग का महत्त्व है। 'मच्चक्षुष्पथमासाद्य सजीवो नैव यास्यति' में भास द्वारा ऐसी ही अभिव्यक्ति हुई है। बोलचाल में 'निगाह में पड़ना' मुहावरे का प्रयोग इसी अर्थ में होता है।

अपाङ्गविक्षेपः

'अपाङ्गविक्षेप' अर्थात् आँख मारने का, अपने आप में कोई महत्त्व ही नहीं है यदि उससे 'हाँ' या 'ना' के समर्थन की व्यंजना न होती हो। व्यंजक होते ही 'अपाङ्गविक्षेप' वाग्योगों की श्रेणी में आ जाता है। भास ने भी इसी रूप में इसका प्रयोग किया है देखिए :—

"करोति अपाङ्गविक्षेपैः शान्तामर्षं वृकोदरम्"।

अर्थात् युधिष्ठिर आँख मारकर (इशारे से) भीम को शान्त कर रहे हैं।

काक्षेण दर्शनम्

जब कोई व्यक्ति, दूसरे उपस्थित व्यक्तियों की दृष्टि को बचाता हुआ, इस प्रकार किसी वस्तु या व्यक्ति को देखता है कि दूसरे लोग उसके देखने को न देख पायें, तब इस वाग्योग का प्रयोग होता है। भास ने इसका प्रयोग इस प्रकार किया है :—

स्वैरासनो द्रुपदराजसुतां रुदन्तीं
काक्षेण पश्यति लिखत्यभिखं नयज्ञः। दूतवा० पृ० १४।

हिन्दी में इसका रूपान्तर 'कनखियों से देखना' के रूप में हुआ है।

नेत्र-सम्बन्धी वाग्योगों में ही भासप्रयुक्त भौं-सम्बन्धी दो वाग्योग भी परिगणित हैं, जो इस प्रकार हैं :—

भ्रूक्षेपमात्रप्रतीष्टैः…।

तथा

ललाटपुटसंस्थिता भ्रकुटिः।

प्रथम वाग्योग का प्रयोग किसी व्यक्ति की समृद्धि और सामर्थ्य की व्यंजना के लिए किया जाता है अर्थात् ऐसे व्यक्ति का इशारा पाते हैं अभिलषित वस्तु उसे उपलब्ध हो जाती है। दूसरे वाग्योग का रूपान्तर 'भौं चढ़ना' वाग्योग के रूप में हिन्दी में प्रचलित है और इससे 'नाराजगी' की व्यंजना होती है।

—:o:—

शिर-सम्बन्धी वाग्योग

शरीर के अन्य अंगों की भाँति ही, शिर से सम्बन्ध रखने वाले भी अनेक वाग्योग सभी भाषाओं में दृष्टिगोचर होते हैं। संस्कृत में भी एसे वाग्योग हैं।

'भास' के नाटकों में शिर से सम्बन्धित अनेक वाग्योग उपलब्ध होते हैं। ये संख्या में अधिक न होने पर भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं कि आज तक भी हिन्दी आदि भाषाओं में इन शिर-सम्बन्धी वाग्योगों का प्रयोग, प्रायः उसी रूप में होता चला आ रहा है।

'भास' के नाटकों में प्रयुक्त शिर सम्बन्धी वाग्योग इस प्रकार है :—

तेन हि **मच्छिरो ददामि**।	कर्णभा० २२	सिर देना
एतदवनतं **शिरः**।	पञ्चरा० १०८	सिर नीचा होना
एतदुन्नतं **शिरः**।	पञ्चरा० १०८	सिर ऊँचा होना
गतमेव मे शीर्षम्	बालच० २०	सिर जाना
शिरसा प्रणम्य विज्ञापयितुमारब्धाः।	प्रतिमा० ६२	सिर झुका प्रणाम करना
दण्डकाष्ठेन **शीर्षं ते भिनद्मि**	प्रतिज्ञा० ७६	सिर फोड़ना
शीर्षं तावच्छित्त्वा…।	चारुद० ३६	सिर काटना
अहं **शीर्षेण याचे**।	चारुद० १०१	सिर झुकाकर माँगना।

शिरो ददामि

सभी जानते हैं कि शिर और वह भी अपना शिर, कोई देने की वस्तु नहीं है, फिर भी जब हम किसी को कुछ न कुछ देकर सन्तुष्ट ही करना चाहते हैं, और लेने वाला व्यक्ति कुछ भी लेकर सन्तुष्ट होने को उद्यत दिखलाई नहीं पड़ता है; तब, अन्त में, हमारे मुँह से यही निकलता है कि न तुम इस वस्तु से सन्तुष्ट हो, न उससे तो फिर क्या में 'अपना **शिर दूँ**' तुम्हें ?

ठीक इसी रूप में भास ने अपने 'कर्णभारम्' नाटक में '**शिरो ददामि**' वाग्योग का प्रयोग किया है। जब, कवच-कुण्डल मांगने के लिए आया हुआ 'शक्र', कर्ण द्वारा प्रस्तावित गायों, घोड़ों और गजों से भी सन्तुष्ट होता हुआ प्रतीत नहीं होता तो व्याकुल और परेशान होकर कर्ण कहता है :—

"तेन हि **मच्छिरो ददामि।**" कर्णभारम्, पृ० २२

स्पष्ट ही, यहाँ 'शिर देने' से तात्पर्य है कि दाता अपना कुछ भी देकर याचक से पिण्ड छुड़ाना चाहता है। इसी व्यंजना में इस वाग्योग का महत्त्व है।

असन्तुष्ट याचक पर क्रोध प्रकट करने के लिए भी, झुंझलाहट में इस प्रकार कह दिया जाता है—तो क्या मेरा शिर लोगे !

अवनतं शिरः
उन्नतं शिरः

इन दोनों वाग्योगों का प्रयोग भास के 'पञ्चरात्रम्' नाटक में हुआ है।

समाज में सम्मान होने पर व्यक्ति गर्दन को ऊपर उठाकर, सिर ऊँचा करके चलता है, जबकि समाज में अपने प्रति असम्मान की भावना का सामना न कर पाने के कारण व्यक्ति दूसरों की उपस्थिति में अपना सिर नीचा ही किये रहता है। धीरे-धीरे समाज में व्यक्तियों का यह व्यवहार ही सम्मानित और असम्मानित होने का सूचक बन गया है।

'भास' ने भी, उपर्युक्त अर्थों में ही इन दोनों वाग्योगों का प्रयोग किया है। '**अवनतं शिरः**' से व्यक्ति के असम्मानित होने और '**उन्नतं शिरः**' सम्मानित होने का लाक्षणिक अर्थ ही यहाँ वाग्योगों का प्रयोजन है।

गतमेव शीर्षम्

इस वाग्योग से वक्ता का अभिप्राय है कि अब निश्चय ही, मृत्युदण्ड मिलेगा। मृत्युदण्ड के लिए सिर काट देना ही इस वाग्योग में कारण है।

शीर्षं छित्त्वा

यह वाग्योग भी, इसमें प्रमाण है कि व्यक्ति को मारने के लिए 'सिर काटना' भास के समय मार देने का एक प्रचलित उपाय था।

शीर्षं भिनद्मि

जान से मारने की अपेक्षा, जब केवल दण्ड स्वरूप घायल करना ही प्रयोजन होता है तो **'शीर्षं भिनद्मि'** जैसे वाग्योगों का प्रयोग होता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में **'दण्डकाष्ठेन** शीर्षं भिनद्मि' में 'दण्डकाष्ठ' शब्द पर भी ध्यान देना आवश्यक है। 'दण्डकाष्ठ' शब्द भी प्रयोग की दृष्टि से संस्कृत में वाग्योग ही हैं, क्योंकि अन्य कवियों ने भी इसका प्रयोग इसी रूप में बहुलता से किया है और बहुलप्रयोग भी वाग्योग की एक पहचान है।

शिरसा प्रणम्य
शीर्षेण याचे

शिरसा प्रणम्य और **शीर्षेण याचे,** इन दोनों वाग्योगों के प्रयोग से अभिव्यक्ति को गम्भीर बनाने का प्रयोजन सिद्ध किया जाता है। केवल 'प्रणम्य' और केवल 'याचे' कहने से जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, उससे अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति में ही इन वाग्योगों का महत्त्व है।

—:०:—

मुख-सम्बन्धी वाग्योग

'भासनाटकचक्रम्' में मुख से सम्बन्ध रखने वाले वाग्योग संख्या में थोड़े ही हैं; तथापि, उन पर दृष्टि पड़ते ही उन्हें पहचानना, इसलिए कठिन नहीं होता चूंकि वे आज की भाषा, हिन्दी में भी प्रायः उसी रूप में प्रचलित हैं, और बहुप्रयुक्त भी हैं।

भास ने अपने नाटकों में, मुख-सम्बन्धी जिन वाग्योगों का प्रयोग हुआ है, वे इस प्रकार हैं :—

पाण्डुत्वमेति वदनम्,	अविमा० ३२	मुख पीला पड़ना
किं **प्रेक्षसे** मम **मुखम्,**	अविमा० १४६	मुख देखना
शोषितमाननमागतम्,	प्रतिमा० १५२	मुख सूखना
व्रीडादिवा**धोमुखम्,**	प्रतिज्ञा० १२०.	मुख नीचा होना

उपरि गणित चारों वाग्योगों में से एक भी ऐसा नहीं है, जिसे प्रथम दृष्टि में ही न पहचाना जा सके। बोलचाल की भाषा के साथ-साथ साहित्यिक कृतियों में आज भी इन वाग्योगों का प्रयोग होता रहता है। यहाँ इन पर, प्रयोग की दृष्टि से थोड़ा सा विचार करना आवश्यक है।

वदनं पाण्डुत्वमेति

इस वाग्योग का प्रयोग प्रायः ऐसी दशा में किया जाता है, जब वक्ता किसी व्यक्ति को, उसकी विशेष परिस्थिति के कारण दुर्बल, भयभीत या हतप्रभ दिखलाना चाहता है। नाटककार भास ने भी, इस वाग्योग का प्रयोग अपने 'अविमारकम्' नाटक में, विरह के कारण नायक की दुर्बलता की दशा को प्रकट करने के लिए किया है। स्वयं नायक की उक्ति है।

तात्पर्य यही है कि नायक ने प्रेम के चक्कर में पड़कर, स्वयं पाण्डुता और दुर्बलता आदि को न्यौता दिया है। यदि रोग आदि के कारण ऐसा होता तो, निश्चय ही उक्ति के सौन्दर्य में यहाँ कमी आ जाती।

किं प्रेक्षसे मुखम् ?

हिन्दी में 'मुँह देखना' मुहावरे का प्रयोग तब होता है, जब किसी कार्य को करने की अपनी सामर्थ्य पर भरोसा न करके, हम उस कार्य में सहयोग प्राप्ति के लिए दूसरे की हाँ की प्रतीक्षा करते हैं। अपना काम अपने ही भरोसे करना ठीक होता है, दूसरों का **मुँह देखना** बेकार है। आदि वाक्यों में इस वाग्योग का प्रयोग होता है।

भास ने, अपनी रचना 'अविमारकम्' में 'मुखं प्रेक्षसे' वाग्योग का प्रयोग उस परिस्थिति में किया है, जब एक पात्र, अपने पुराने साथी से मिलता है और इस बात की प्रतीक्षा करता है कि वह पुराना साथी उसे पहचान कर, प्रोत्साहित करे, तब वह आगे आकर उससे मिले।

प्रायः प्रश्न में अथवा 'काकु' के साथ ही इस वाग्योग का प्रयोग मिलने से, यह स्पष्ट है कि इन पर ही इस वाग्योग की वाग्योग्यता निर्भर करती है।

मुख-सम्बधी वाग्योगों के विवेचन के उपरान्त, अब हम यहाँ कुछ ऐसे वाग्योगों का विवेचन करना चाहते हैं, जो मुख से होने वाली बातचीत---वचन या वाक्य आदि से सम्बन्ध रखते हैं।

परस्पर के व्यवहार में एक-दूसरे की बात मानने को महत्त्व दिया जाता है। भारतीय संस्कृति में गुरुजनों एवं मित्रों की बात को मानना अच्छे आचरण का प्रतीक है। भास की भाषा में 'आज्ञा' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत कम ही देखने को मिलता है। 'आज्ञा' शब्द के स्थान पर उन्होंने 'वचन' एवं 'वाक्य' शब्दों का ही प्रयोग प्रायः किया है। इसे हम भास की एक वाग्योगात्मक विशेषता भी मान सकते हैं। कुछ उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं :—

न मे शृणोति वचनम्।	अभिषे० ५४.	बात न मानना
स्वः पुत्रः कुरुते पितुर्यदि वचः कस्तत्र भोः विस्मयः।	प्रतिमा० १८	आज्ञा मानना या बात मानना

वचनमपि गुरूणाम् अन्तशः **पूरयित्वा** ।	प्रतिमा० १७१.	वचन पूरा करना
स शिक्षितानां **वचनेषु तिष्ठति** ।	प्रतिज्ञा० १२५	कहने में रहना
यस्यैकादशवाहिनीनृपतयस् **तिष्ठन्ति वाक्योन्मुखाः** ।	उरुभ० ५१.	आज्ञा चाहना
दारिद्रयात् पुरुषस्य बान्धवजनो **वाक्ये न संतिष्ठते** ।	चारुद० ८६.	कहने में रहना
यदुपतेर्वाक्यं गृहीत्वागतः ।	दूतघ० २९.	आज्ञा मानकर ।

उपरि उद्धृत उदाहरण-वाक्यों में आज्ञा शब्द का प्रयोग एक भी स्थल पर नहीं हुआ है, जबकि सभी वाक्यों में तात्पर्यार्थ आज्ञा ही है ।

कुछ अन्य स्थलों पर, 'वाक्य' शब्द का वाग्योगात्मक प्रयोग आज्ञा से भिन्न अर्थ में भी भास ने किया है देखिए :—

वाक्यशौण्डीर्यम् ।	पञ्चरा० ९६	बातें बनाना ।
यदि स्यात्**वाक्यमात्रेण** **निर्जितेयं** वसुन्धरा ।	दूतघ० ३६.	केवल बातों से जीतना ।
वाक्ये-वाक्ये यदि भवेत् सर्वक्षत्रवधः कृतः ।	दूतघ० ३६.	केवल बातों से काम होना ।

उपर्युक्त तीनों स्थलों पर 'वाक्य' शब्द का 'बकवादी होना' 'केवल बातें बनाना' और 'बातों से काम होना' आदि अर्थों में ही भास ने किया है । इनका कुछ अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक है ।

वाक्यशौण्डीर्यम्

हिन्दी भाषा में एक उक्ति है—'बातों का करामाती होना' । तात्पर्य है कि जो व्यक्ति हाथ-पैर हिलाकर तो कुछ काम करे नहीं, केवल बातें ही करता रहे, वह 'बातों का करामाती' होता है, काम का करामाती नहीं होता । इसी अर्थ में संस्कृत का 'वाक्यशौण्दीर्यम्' वाग्योग प्रयुक्त होता है । शौण्डीय से तात्पर्य है—शूरता और वाग्यशौण्डीयम् से तात्पर्य है केवल बात बनाने में शूरवीर हाना । पराक्रम करके दिखाने में नहीं ।

वाक्यमात्रेण स्यात्

इस वाग्योग का भी यही तात्पर्य है कि केवल मुँह से कह देने मात्र से ही कोई कार्य नहीं हुआ करता । कार्य में सफलता के लिए मनुष्य को कुछ परिश्रम करना होता है । विशेष रूप से पृथ्वी को जीतने-जैसे कार्य के लिए तो बहुत अधिक पराक्रम

की आवश्यकता होती है, केवल जबान चला देने से ही पृथ्वी नहीं जीती जा सकती।

वाक्ये-वाक्ये भवेत्

इस वाग्योग में भी 'वाक्ये-वाक्ये' से तात्पर्य केवल कोरी बातों से ही है। अर्थात् सब क्षत्रियों का वध करना-जैसा भारी काम, केवल, कोरी बातों से नहीं हो सकता।

वस्तुतः, 'वाक्यमात्रेण' और 'वाक्ये-वाक्ये' में तात्पर्यार्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। इन्हें हम एक ही तात्पर्यार्थ के लिए प्रयुक्त होने वाले दो पृथक्-पृथक् वाग्योग मान सकते हैं।

आज्ञाविधेयः

पूर्णतया आज्ञापालन करने वाले व्यक्ति के अथ में यह संस्कृत को बहुप्रयुक्त वाग्योग है। बहुवचन में इसका प्रयोग भास ने एक स्थल पर किया है :—

आज्ञाविधेया वयम्। पञ्चरा० ४९ आज्ञाकारी होना

उन्मत्त इव प्रलपन्

'बातें बनाना' और 'बातों का करामाती होना' जैसे वाग्योगों से समानता रखने वाला हिन्दी का एक वाग्योग है—पागल का-सा प्रलाप करना। इसी अर्थ में भास ने इस वाग्योग का प्रयोग किया है :—

उन्मत्त इव बहु प्रलपन्। प्रतिमा० ४७.

कवि भास का अभिप्राय है कि अपनी बात का कोई प्रभाव होता हुआ न देखकर भी राजा दशरथ उसी प्रकार कुछ न कुछ सार्थक या निरर्थक बोलते चले जा रहे हैं, जिस प्रकार कोई पागल व्यक्ति कुछ न कुछ कहता ही रहता है, या बड़बड़ाता रहता है।

पिष्टपेषणम्

यह संस्कृत का, वार्तालाप में प्रयुक्त होने वाला एक बहुप्रचलित वाग्योग है। श्रोता अथवा श्रोताओं की ऊबन की चिन्ता न करते हुए भी जब कोई व्यक्ति कही गयी बात को ही, बाद में भी बार-बार कहता है, तब इस वाग्योग का प्रयोग होता है। भास ने भी इसका प्रयोग एक स्थल पर किया है। देखिए :—

पिष्टपेषणमेतावत् पर्याप्तम्। दूतवा० २७. पिष्टपेषण करना

हिन्दी में भी 'पिष्टपेषण करना' वाग्योग का प्रयोग प्रायः होता है।

इस वाग्योग के उद्भव पर विचार करने से ज्ञात होता है कि हमारी भाषा में प्रयुक्त होने वाले अनेक वाग्योगों का आविर्भाव हमारी दैनिक क्रियाओं से ही हुआ है। प्राचीनकाल में कूटने-पीसने के सभी कार्य घर में ही, घर के स्त्री-पुरुषों द्वारा ही किये जाते थे। ऐसी दशा में यदि कोई व्यक्ति पीसे गये आटे आदि पदार्थ को ही

बार-बार पीसता था तो उसका श्रम व्यर्थ ही हो जाता था। इसी प्रकार एक बात को कह चुकने के बाद भी, उसी को बार-बार कहने में वक्ता का श्रम भी व्यर्थ ही जाता है। साथ ही, श्रोता को भी उसमें कोई रस नहीं आता है और व्यर्थ ही उसका समय नष्ट होता है। इसी आधार पर 'पिष्टपेषणम्' वाग्योग का आविर्भाव हुआ है।

वाणी-वाक्-सम्बन्धी वाग्योग

मधुरा वाक्
रुक्षं वचः
रुक्षं वदसि

मीठा बोलना, रूखा बोलना—ये हिन्दी के प्रचलित वाग्योग हैं। भास ने भी अपने नाटकों में इनका प्रयोग किया है। यथा :—

न हि रूपमेव **वागपि खल्वस्या मधुरा।**	स्वप्न०, २०,	वाणी मीठी होना
अस्य **रुक्षस्य वचसः** परिष्वङः शमीक्रिया।	पञ्चरा० ३७,	रूखा वचन
क्षिपसि, वदसि रूक्षम्।	दूतघ० ३७,	रूखा बोलना

निस्सन्देह, इन सभी वाग्योगों का उद्भव खाने-पीने के पदार्थों के अच्छे-बुरे अनुभव के आधार पर हुआ है। श्रोता के अनुभव को मूर्तरूप देना ही इनका उद्देश्य है और वही इनकी वाग्योग्यता भी है।

शोषितमाननम्

प्रायः श्रम, भय और चिन्ता आदि कारणों से व्यक्ति के मुखमण्डल पर वह ताज़गी नहीं रहती है। इसके साथ ही व्यक्ति निष्प्रभ-सा हो जाता है। ऐसे परेशान और व्याकुल व्यक्ति की दशा को प्रकट करने में यह वाग्योग पूर्णरूपेण सहायक सिद्ध होता है। 'प्रतिमानाटकम्' में जनस्थान से निराश और दुःखी होकर लौटे हुए सुमन्त्र की दशा की व्यञ्जना के लिए ही भास ने भी इस वाग्योग का प्रयोग किया है।

व्रीडादिवाधोमुखम्

प्रतिद्वन्द्विता में पराजित होकर स्वयं ही लज्जित होने वाले व्यक्ति की दशा को प्रकट करने के लिए, भास ने इस वाग्योग का प्रयोग किया है। 'अधोमुख' होना यहाँ लज्जित होने के अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग है। ऐसी दशा में लज्जित व्यक्ति मुख ऊपर उठाकर और आँखों में आँखें डालकर बात करने से कतराता है।

अधर

'भास के आधे नाटकों की कथावस्तु 'महाभारत' पर आधृत है। इन नाटकों में प्रधान रस प्रायः वीर और रौद्र ही है। अतः स्वाभाविक है कि उत्साह और क्रोध

की व्यंजना करने वाले अनेक वाग्योग भी इनमें प्रयुक्त हों। अधर और ओष्ठ से सम्बन्धित ऐसे कुछ वाग्योग यहाँ संकलित हैं :—

स्फुरिताधरोष्ठः	(अर्जुनः)	दूतवा० १२,	ओठ फड़कना
दष्टाधरोष्ठौ	(नकुलसहदेवौ)	दूतवा० १२,	ओठ काटना
दष्टोष्ठः	(घटोत्कचः)	दूतघ० ४०,	,, ,,
सन्दष्टोष्ठपुटेन	(पाण्डुतनयेन (भीमेन)	उरुभ० २३,	,, ,,
सन्दष्टोष्ठः	(वाली)	अभिषे० १३,	,, ,,

उपर्युक्त सभी वाग्योग विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। उनके साथ दिये गये विशेष्यों को देखने मात्र से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी वाग्योग शत्रु के प्रति क्रोध की व्यंजना करने वाले हैं। यहाँ ये सभी अनुभाव के रूप में प्रयुक्त हैं।

यह एक सामान्य अनुभव है कि गम्भीर विषयों की अपेक्षा सामान्य विषयों में और प्रेम की अपेक्षा क्रोध की स्थिति में भाषा में वाग्योगों का प्रयोग अधिक संख्या में देखा जाता है। किसी पर क्रोधित होते समय या किसी को बुरा-भला कहते समय वक्ता की भाषा में वाग्योगों की भरमार-सी दिखलायी देने लगती है। भास के 'अभिषेकनाटकम्' का एक प्रसङ्ग यहाँ द्रष्टव्य है। बाली और सुग्रीव के युद्ध का वर्णन करते हुए भास ने बाली के आक्रामक योद्धा रूप का वर्णन इस प्रकार किया है :—

"सन्दष्टोष्ठश्चण्डसंरक्तनेत्रो
मुष्टिं कृत्वा गाढमुद्वृत्तदंष्ट्रः।
गर्जन् भीमं वानरो भाति युद्धे
संवर्ताग्निः सन्दिधक्षुर्यथैव ॥"

प्रस्तुत वर्णन में, भास ने एक-साथ छह वाग्योगों का प्रयोग किया है। देखिए :—

१. **सन्दष्टोष्ठः**	=	ओठ काटना।
२. **सँरक्तनेत्रः**	=	आँखे लाल होना।
३. **मुष्टि कृत्वा**	=	मुट्ठी तानना।
४. **उद्वृत्तदँष्ट्रः**	=	दात भींचना।
५. **भीमं गर्जन् वानरः,**	=	गरजना (वानर का)
६. **संवर्ताग्निः एव (वानरः)**	=	प्रलयाग्नि होना।

ऐसे अनेक उदाहरण भास के नाटकों में, विशेषतः महाभारत की कथा पर आधृत नाटकों में मिलते हैं।

जीभ

जिह्वा से सम्बन्धित एक वाग्योग का भी सुन्दर प्रयोग भास के 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायम्' नाटक में हुआ है। राजा और विदूषक की गुप्त बातचीत के प्रसंग में

विदूषक राजा को विश्वास दिलाने के लिए अपनी **जीभ पर नियन्त्रण लगाने** के लिए इस उक्ति का प्रयोग करता है :—

"एषा **सन्दष्टा** मे **जिह्वा** ।" प्रतिज्ञा० ६३ ।

अर्थात् लो, मैंने अपनी यह **जीभ काटी**, जिससे तुम्हें यह विश्वास हो जाना चाहिए कि मुखर होते हुए भी मैं तुम्हारी बात किसी को नहीं बतलाऊँगा । **'जीभ काटना'** से वाणी पर नियन्त्रण करने की व्यंजना करना ही यहाँ इस वाग्योग का प्रयोजन है । मुख से किसी अनुचित बात के निकल जाने पर भी लोग प्रायः जीभ काटा करते हैं ।

श्रोत्र

श्रोत्र-सम्बन्धी कुछ वाग्योग संस्कृत-भाषा की अपनी ही विशेषता है । उदाहरण के लिए केवल श्रोत्र न कहकर **'श्रुतिपथ'** शब्द का प्रयोग करना अथवा सुनने में अच्छा लगने वाले शब्दों के लिए 'श्रोत्ररसायन' शब्द का प्रयोग करना, कुछ ऐसे ही प्रयोग हैं । संस्कृत में इनका प्रयोग प्रायः सभी कवियों और लेखकों ने किया है । अतः निश्चित रूप से ये प्रयोग, वाग्योग की ही कोटि में आते हैं । भास ने भी, अपने नाटकों में इनका प्रयोग किया है । यथा :—

केनेतच्छ्**रुतिपथ**दूषणं कृतं मे । दूतघ० ५

यः···**श्रुतिपथ**मिष्टतः प्रविष्टः । प्रतिमा० १०४

श्रोत्ररसायनै···नामधेयैरेव श्रावय । प्रतिमा० ५६

इसी के साथ, श्रोत्र-सम्बन्धी, एक बहुप्रचलित वाग्योग **'श्रोत्रविदारणो** ध्वनिः' का प्रयोग भी अपने 'अभिषेकनाटकम्' में भास ने किया है । हिन्दी में भी तेज आवाज को 'कान फाड़ने वाली आवाज' प्रायः कह दिया जाता है ।

कण्ठ

कण्ठ से सम्बन्धित केवल दो ही वाग्योग हमें भास के नाटकों में उपलब्ध हुए हैं, किन्तु वे दोनों ही ऐसे हैं जिनका प्रयोग आजकल भी, उसी रूप में होता है । वे दो वाग्योग हैं :—

१. अङ्घो, **कण्ठस्य दीर्यमाणस्य** नोच्चं विरमति ।	प्रतिज्ञा० ११३	गला फाड़ना
२. **आकण्ठमात्रमशित्वा** ।	चारुद० ११	गले तक (पेट भर कर) खाना ।

ये दोनों ही वाग्योग बोलचाल की दैनिक भाषा में आज भी इसी रूप में प्रयुक्त होते हैं । पहले वाग्योग का प्रयोग बहुत तेज चिल्लाने के अर्थ में और दूसरे वाग्योग का प्रयोग उचित मात्रा से अधिक भोजन कर लेने के अर्थ में होता है ।

वक्षस्थल

वक्ष को, विशेषत: वीर पुरुष के वक्ष को **किवाड़ों की जोड़ी** के समान कहना, संस्कृत-हिन्दी की पुरानी परम्परा है। भास ने अपने 'प्रतिमानाटकम्' में दो स्थलों पर भरत के वक्ष के लिए इसी वाग्योग का प्रयोग किया है। यथा :—

१. वक्षः प्रसारय **कपाटपुटप्रमाणम्**। प्रतिमा० ११२

२. वक्षः प्रसारय **कवाटपुटप्रमाणम्**। प्रतिमा० १७७

इन दोनों ही स्थलों पर भरत के वक्ष के लिए 'विस्तृत' आदि विशेषणों का प्रयोग न करके, सीधे-सीधे ही उसे 'कपाटपुटप्रमाणम्' कह दिया गया है। 'कपाटपुट-प्रमाणम्' को वाग्योग मानने का कारण यहाँ एक तो यह है कि इस विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए यही प्रयोग रूढ़ है, दूसरे वक्ष की दृढ़ता, पुष्टता और शत्रु को रोकने की क्षमता आदि की व्यंजना भी इससे भली-भाँति हो रही है।

हाथ

'भासनाटकचक्रम्' में हाथ-सम्बन्धी तीन वाग्योग दृष्टिगोचर होते हैं, जो इस प्रकार हैं :—

१. न च गणयसि किञ्चिद्
व्याहरन् दीर्घहस्तः। —दूतघ० ३७, (हाथ फेंक-फेंककर बात करना)

२. किन्नु खल्वपरा स्त्री तस्य
हस्तं गमिष्यति। —स्वप्न० ४६, (हाथ आना)

३. वत्साश्च **हस्ते** तव। —स्वप्न० १३२, (हाथ आना)

'हाथ आना' अथवा 'हाथ लगना' से तात्पर्य यहाँ 'प्राप्त हो जाने' या 'अधिकार में आ जाने' से है। आज भी बोलचाल की हिन्दी भाषा में हम इन वाग्योगों का प्रयोग इसी रूप में करते हैं।

प्रथम वाग्योग का प्रयोग उस मुद्रा का सूचक है, जिसमें कोई व्यक्ति, अपने प्रतिद्वन्द्वी को ललकारते हुए, अहंकारपूर्वक अपनी प्रशंसा करता है और चुनौती देता है। प्राय: मुहल्लों में लड़ती हुई दो स्त्रियों में यह दृश्य आज भी दिखलाई पड़ जाता है।

प्राण

भास ने अपने नाटकों में प्राण-सम्बन्धी भी कुछ वाग्योगों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ :—

१. **प्राणाः पणोऽत्र**। दूतघ० ३७, (प्राणों की बाजी लगाना)

२. **पुनर्दत्ता इव मे प्राणाः**। अविमा० ४२, (फिर से प्राण देना)

३. मम खलु प्राणैः शापितः
स्याः यदि सत्यं न ब्रूयाः । अभिषे० ६३, (प्राणों की सौगन्ध खाना)
४. ” ” ” बालच० १८, ” ”
५. स्वैः प्राणैरस्मि शापितः । प्रतिमा० २२, ” ”

प्रथम वाग्योग तो बहुत ही प्रचलित है । दूसरे वाग्योग का प्रयोग भी प्रायः होता रहता है । ३ से ५ तक के वाग्योगों की मान्यता में थोड़ा सन्देह हो सकता है । किन्तु, जब एक निश्चित शब्दावली उसी रूप में बार-बार प्रयुक्त होती है, तो वह भी वाग्योग ही कहलाती है । निश्चित शब्दावली का, उसी रूप में रूढ हो जाना ही यहाँ वाग्योग का लक्षण है । अतः 'प्राणैः शापितः', इस वाक्यांश को भी वाग्योग ही मानना उचित है ।

बुद्धि

भास द्वारा प्रयुक्त बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाले वाग्योगों में बुद्धि और मति– इन दोनों ही शब्दों का प्रयोग पर्याय के रूप में हुआ है । ऐसे कुछ वाग्योग इस प्रकार हैं—

१. अहो नु खलु महाराजस्य
विपरीता बुद्धि संवृत्ता । अभिषे० ५४ (बुद्धि उल्टी होना)
२. मम **बुद्धिरादर्श**मण्डलगतेव
छाया वामेषु दक्षिणा, दक्षिणेषु
वामा भवति । चारुद० ३२ (बुद्धि पलटना)
३. धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता **बुद्धिर्दो-
लायते** मम । अभिषे० ११६ (बुद्धि डाँवाडोल होना)
४. शालङ्कायनं प्रति **गता मे बुद्धिः ।** प्रतिज्ञा० ५१ (दिमाग जाना)
५. **मतिं कृत्वा ।** दूतवा० १६ (सोचना)
६. कौशाम्बीं प्रति **का कृता** ते
बुद्धिः । प्रतिज्ञा० १२७ (सोचना)
७. देव्यपनयने **का कृता** ते **बुद्धिः ।** स्वप्न० १६८ (सोचना)

यहाँ प्रस्तुत वाग्योगों में से १ और २ का प्रयोग तो प्रायः होता ही है । उचित के स्थान पर अनुचित निर्णय लेने की स्थिति में सदैव उपर्युक्त दोनों वाग्योगों का प्रयोग होता है । भास ने भी ऐसी परिस्थितियों में इनका प्रयोग किया है ।

तीसरे वाग्योग का प्रयोग प्रायः ऐसी दशा में होता है जब व्यक्ति दो विषयों के प्रस्तुत होने पर किसी एक के विषय में निर्णय नहीं कर पाता है तथा बारी-बारी से दोनों के विषयों में सोचता रहता है ।

४–७ तक के वाग्योगों में बुद्धि के साथ 'गम्' और 'कृ' धातुओं का प्रयोग करना ही एक विलक्षणता है। वस्तुतः, बुद्धि न कहीं आती-जाती है और न ही वह करने योग्य कोई काम है, तथापि इन दोनों धातुओं का प्रयोग बुद्धि के साथ हुआ है। ५वें वाग्योग में बुद्धि के स्थान पर 'मति' शब्द का प्रयोग हुआ है। अभिप्राय वही है।

सम्भव है, ये वाग्योग भास को विशेष प्रिय रहे हों। अन्य कवियों की भाषा को देखने से यह स्पष्ट हो पाएगा।

—:०:—

हृदय-सम्बन्धी वाग्योग

भास-प्रयुक्त वाग्योगों में, नेत्रों से सम्बन्धित वाग्योगों के बाद हृदय-सम्बन्धी वाग्योग, संख्या की दृष्टि से द्वितीय स्थान पर हैं। अतः, नेत्र-सम्बन्धी वाग्योगों के उपरान्त अब हृदय-सम्बन्धी वाग्योगों का विवेचन ही यहाँ उपयुक्त होगा।

'भासनाटकचक्रम्' में संकलित नाटकों के क्रम से, उनमें प्रयुक्त-हृदय-सम्बन्धी वाग्योग इस प्रकार हैं :—

हृदयेन लज्जे।	पञ्चरा० १०१,	हृदय से लजाना
मानुषे **न्यस्तहृदया** (सा)।	अभिषे० ३३,	हृदय गिरवी रखना
सुखस्य दुःखस्य चान्तरे **दोलायते इव मे हृदयम्।**	अभिषे० ४०,	हृदय का डाँवाडोल होना
महोत्सवो मे हृदि।	अविमा० ११४,	दिल बाग-बाग होना
किं त्वया मम **हृदयं परिज्ञातम्।**	अविमा० १२१,	दिल की बात जानना
चलतीव मे हृदयम्।	अविमा० १६७,	दिल कांपना
शरीरेऽरिः **प्रहरति हृदये** स्वजनस्तथा।	प्रतिमा० २८,	दिल पर चोट करना
न शीर्णं यद् दृष्ट्वा जनकतनयां वल्कलवतीम्।	प्रतिमा० ६६,	१. दिल टूक-टूक होना, या हृदय का फटना
अहो धात्रा सृष्टं भवति ! **हृदयं वज्रकठिनम्॥**	प्रतिमा० ६६,	२. पत्थर दिल होना

क्लेदयतीव मे हृदयम्	प्रतिमा० १०५,	दिल पसीजना, दिल भर आना
तथैव तावद् हृदयव्रणो मे ।	प्रतिमा० १२६,	दिल में घाव होना
सन्तापाद् भ्रष्टहृदयः ।	प्रतिमा० १५६,	दिल टूटना
शून्यमिव मे हृदयम् ।	स्वप्न० ४०,	हृदय का शून्य होना
हृदयेन सह मन्त्रितम् ।	स्वप्न० ४६,	दिल की बात करना
अन्धी भवति मे हृदयम् ।	स्वप्न० ६१,	हृदय को कुछ न सूझना
इयं चिन्ताशून्यहृदया ।	स्वप्न० ६३,	हृदय का शून्य होना
सशल्यमेव हृदयम् ।	स्वप्न० ८१,	हृदय में टीस होना दिल में चुभन होना
एतावता हृदयं न जानाति ।	स्वप्न० ९४,	दिल की बात न जानना
सवेष्टनं मे हृदयं हरन्ती (सा) ।	चारुद० २०,	हृदय हरना
तत्रभवती, हृदयेन त्वां याचते ।	चारुद० १०१,	हृदय से चाहना

उपर्युक्त वाग्योगों पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि इनमें से अधिकांश का प्रयोग भास के उन्हीं नाटकों में हुआ है, जिनकी कथावस्तु में प्रेम, करुणा और श्रृंगार रस की प्रचुरता है। अब इनका विवेचन यहाँ उपयुक्त होगा।

हृदयेन लज्जे

यह वाग्योग, सामान्यतया दैनिक वार्तालाप में प्रयुक्त होता है। 'लज्जे' मात्र कहने से भी यद्यपि यह स्पष्ट है कि लज्जा का अनुभव हृदय में ही होता है, तथापि 'हृदयेन लज्जे' वाग्योग से वक्ता के कथन में जो गहराई आती है, वह केवल 'लज्जे' कहने से नहीं आ पाती। यही इस वाग्योग की विशेषता है।

हृदयेन याचते

ऊपर की सूची में परिगणित वाग्योगों में से 'हृदयेन याचते' वाग्योग का महत्व भी इसी कारण है कि केवल 'याचते' कहने से अभिव्यक्ति में जो गम्भीरता नहीं आती है, वह आ जाय। यह भी सम्भव है कि 'याचना करना' तब इतना सामान्य व्यवहार हो गया हो, कि उसका कोई महत्त्व ही न रहा हो। अतः, 'याचते' इस सामान्य वाग्व्यवहार से सफलता न मिलते देखकर, वक्ता को यहाँ 'हृदयेन याचते' वाग्योग से काम लेना पड़ा है। वस्तुतः, प्रेम के प्रसंग में यह वाग्योग उपयुक्त होने के कारण अत्यधिक सफलता प्राप्त कराने वाला है।

आजकल भी, अपने दैनिक व्यवहार में सामान्य 'क्षमा याचना' और 'हृदय से क्षमा याचना' में हम निश्चय ही अन्तर अनुभव करते हैं।

न्यस्तहृदया (सा)

यह वाग्योग भी प्रेम-प्रसंग से ही सम्बन्ध रखता है। वस्तुतः, न्यास या धरोहर के रूप में जो वस्तुएँ रक्खी जाती हैं, वे होती तो बहुमूल्य हैं, किन्तु होती हैं, वे जड़ ही, जैसे धन, आभूषण या ऐसी ही कोई अन्य वस्तु। अतः, वस्तुरूप में न होने पर भी हृदय को न्यास रूप में रखना ही यहाँ वाग्योगत्व है।

न्यासयोग्य वस्तु को सदैव विश्वासपात्र व्यक्ति के पास ही रक्खा जाता है। न्यस्तहृदय व्यक्ति भी एक ओर तो अपने प्रेमपात्र को विश्वासपात्र होने के गुण से मण्डित करना चाहता है, दूसरे यह भी कि अब वह कहीं अन्यत्र हृदय खो जाने की शंका से भी मुक्त हो गया है। यही अभिव्यक्ति इस वाग्योग का सार है।

दोलायते हृदयम्

यह वाग्योग हृदय में होने वाली दुविधा को प्रकट करता है। हृदय के स्थान पर 'मन' का प्रयोग करके 'मनो दोलायते' वाग्योग भी बनता है। वस्तुतः, दोनों का प्रयोग इसी अर्थ को व्यक्त करता है कि मन या हृदय, दो विषयों की ओर, बारी-बारी से बराबर मात्रा में आकर्षित होता है। विषयों के दो से अधिक होने पर 'मन का चंचल होना' या 'हृदय का चंचल होना' आदि वाग्योगों का प्रयोग भाषा में किया जाता है।

हृदि महोत्सवः

'नेत्रोत्सवः' वाग्योग के प्रसंग में 'उत्सवः' वाग्योग की चर्चा पहले हो चुकी है। 'उत्सव' के साथ 'महान्' विशेषण लगाने पर 'महोत्सव' वाग्योग बना है। 'हृदि महोत्सवः' वाग्योग की तुलना हम उर्दू भाषा में प्रयुक्त 'दिल बागबाग होना' वाग्योग कर सकते हैं।

हृदयं परिज्ञातम्
हृदयं जानाति

'हृदयं परिज्ञातम्' तथा 'हृदय जानाति' जैसे वाग्योगों का प्रयोग उस परिस्थिति में होता है, जब वक्ता यह चाहता है कि केवल मुँह से कही हुई बात के अतिरिक्त उस भावना को भी जान लिया जाय, तो वक्ता के हृदय में है, और जिसे अनेक कारणों से वह मुँह से कह नहीं पा रहा है।

हृदयं चलति

यह एक बहुत ही प्रचलित वाग्योग है, जिसका प्रयोग भय और आशंका आदि की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। भास के नाटक 'अविमारकम्' में भी, उपर्युक्त सन्दर्भ में इसका प्रयोग ऐसी ही अवस्था में हुआ है।

हृदये प्रहरति स्वजनः

इस वाग्योग का प्रयोग, इस स्थिति में किया जाता है, जब हम अपने प्रिय-जनों से ही अपनी भावनाओं पर ठेस अनुभव करते हैं। वाग्योग का महत्त्व यहाँ 'शरीर पर चोट' की तुलना में 'भावना पर चोट' को अधिक बल देने में है।

वज्रकठिनं हृदयम्

हिन्दी में इस अर्थ में 'पत्थर दिल होना' वाग्योग का व्यवहार होता है। पत्थर की अपेक्षा भी, हृदय को अधिक कठोर व्यक्त करने के लिए 'वज्रकठिनम्' या 'वज्रादपि कठोरम्' का प्रयोग संस्कृत में प्रायः देखा जाता है।

'प्रतिमानाटकम्' में, भरत की 'कैकेयी' के प्रति उक्ति में इस वाग्योग का प्रयोग इस प्रकार हुआ है :—

"न **शीर्णं** यद् दृष्ट्वा जनकतनयां वल्कलवतीम्।
अहो धात्रा सृष्टं भवति ! **हृदयं वज्रकठिनम्** ॥

निश्चय ही, यहाँ कैकेयी के अत्यधिक कठोरतापूर्ण व्यवहार को अभिव्यक्त करना ही 'भरत' को अभिप्रेत है और इस अभिव्यक्ति के लिए 'हृदयं वज्रकठिनम्' वाग्योग पूर्णतया उपयुक्त है।

न शीर्णं हृदयम्

इसके साथ ही '**न शीर्णम्** (यद्=**हृदयम्**) प्रयोग भी वाग्योगात्मक ही है। जो हिन्दी में 'हृदय चूर-चूर होना' या 'हृदय फटना' वाग्योग के रूप में प्रयुक्त होता है। उर्दू में इसी अभिव्यक्ति के लिए 'दिल के टुकड़े होना' या 'दिल टूक-टूक होना' मुहावरे का प्रयोग देखा जाता है।

हृदयं क्लेदयति

यह वाग्योग, उपर्युक्त 'वज्रकठिनं हृदयम्' वाग्योग के नितान्त विपरीत अर्थ को अभिव्यक्त करता है, अर्थात् ऐसा व्यवहार जो हृदय को द्रवित कर दे, हृदय को पिघला दे। जब किसी स्वजन या प्रियजन के किसी व्यवहार से हम, उसके प्रति भावुक हो उठते हैं, तब इस वाग्योग से अभिव्यक्ति में बड़ी कुशलता आ जाती है। इसी अर्थ में 'हृदय पसीजना' वाग्योग भी आता है।

हृदयव्रणः

'हृदय पर प्रहार' होने के उपरान्त जो स्थायी पीडा हृदय को सालती रहती है, उसी की अभिव्यक्ति के लिए 'हृदयव्रण' वाग्योग का प्रयोग कविगण करते हैं।

सशल्यं हृदयम्

'हृदय-पीड़ा', जब एकरस या समान न रहती हुई, कभी-कभी प्रसंगवश अधिक

टीस पैदा करती है, तब उसकी अभिव्यक्ति के लिए 'सशल्यं हृदयम्' वाग्योग का प्रयोग होता है।

शून्यं हृदयम्

यह वाग्योग व्यक्ति की उस दशा का सूचक है, जिसमें व्यक्ति के चेहरे पर किसी भी भाव का सूचक, कोई भी चिह्न नहीं दिखलाई पड़ता। हृदय-शून्यता से भाव-शून्यता की अभिव्यक्ति ही इस वाग्योग का चमत्कार है।

चिन्ताशून्यं हृदयम्

भावशून्यता में जब चिन्ता कारण हो तो चिन्ताशून्यं हृदयम् जैसा वाग्योग बनता है। बहुव्रीहि समास होने पर इसी का रूप चिन्ताशून्यहृदयः, चिन्ताशून्यहृदया तथा चिन्ताशून्यहृदयम् आदि हो जायगा।

हृदयेन सह मन्त्रितम्

इस वाग्योग का प्रयोग उस अवस्था में होता है, जब एक व्यक्ति कोई ऐसी बात कह देता है, जिसे दूसरा व्यक्ति भी उसी रूप में कहना चाहता है। अनेक बार मुख से कही गयी बात में और हृदय में स्थित बात में, इसलिए अन्तर हो जाता है कि अभिव्यक्ति-कुशलता की कमी के कारण हृदय में जो होता है, वह मुख से पूर्णतया उसी रूप में अभिव्यक्त नहीं हो पाता है। लज्जा और भय आदि कारणों से भी कई बार ऐसा होता है कि हम अपने हृदय की बात नहीं कह पाते हैं। अतः, हमारे न कह पाने पर भी जब दूसरा व्यक्ति ठीक वही बात कह देता है, तब इस वाग्योग का प्रयोग किया जाता है। वाणी की वाणी से मन्त्रणा न होकर, वाणी की हृदय से मन्त्रणा होना ही यहाँ वाग्योग का सौन्दर्य है।

हृदयं हरन्ती

यह एक बहुत ही प्रचलित वाग्योग है। हृदय कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे धन की तरह हरा या चुराया जा सके, तथापि प्रेम-व्यापार में प्रेमीजन परस्पर इस प्रकार का आरोप-प्रत्यारोप लगाते हैं। अन्य विषयों से हटकर प्रेमी या प्रेमिका में अत्यधिक आसक्ति की अभिव्यक्ति करना ही इस वाग्योग का प्रयोजन है।

—:o:—

मन से सम्बन्धित वाग्योग

हृदय-सम्बन्धी वाग्योगों के विवेचन के उपरान्त अब मन-सम्बन्धी वाग्योगों का विवेचन यहाँ करेंगे। भास द्वारा प्रयुक्त मन से सम्बन्धित वाग्योग इस प्रकार हैं :—

मनस्तपति मे भृशम्।	मध्यम० २०.	मन का सन्तप्त होना।
न शक्यं **मनो जेतुम्**।	अविमा० ३४.	मन को जीतना।
मम **मनो** न तु मा**मुपैति**।	अविमा० ६०.	मन का समीप न आना।
मम **मनः प्रिययावरुद्धम्**।	अविमा० ६०.	मन को रोकना।
उच्छ्वसितमिव मे **मनः**।	प्रतिमा० १८.	मन हल्का होना।
भग्नो मे **मनोरथः**।	प्रतिमा० ५६.	मनोरथ भग्न होना।
उच्छ्वसितमिव मे **मनः**।	प्रतिज्ञा० २८.	मन हल्का होना।
न **श्लिष्यते** मे **मनसि**।	स्वप्न० १५.	मन में न ठुकना।
वासवदत्ता**बद्धं मनः**।	स्वप्न० ६५.	मन का बँधना।
मनो हरति।	स्वप्न० ६५.	मन को हरना।
पतति···चित्तम्।	बालच० १८.	दिल का बैठना।

उपरि गणित ग्यारह वाग्योगों में केवल एक ही वाग्योग चित्त से सम्बन्धित है। शेष सभी का सम्बन्ध मन से है। वस्तुतः, अर्थ की दृष्टि से ये सभी एक ही वर्ग के हैं। एक-एक करके, इन सभी का विवेचन यहाँ करणीय है।

मनस्तपति

यह वाग्योग विरह आदि कारणों से मन के दुःखी होने को प्रकट करता है। 'तपन' क्रिया का सम्बन्ध सामान्यतया लोह आदि धातुओं से बनी ठोस वस्तुओं से होता है, किन्तु प्रस्तुत वाग्योग में सूक्ष्म (अमूर्त) मन के तपने की बात कही गयी है। इसी विलक्षणता के कारण यह वाग्योग स्पृहणीय बन गया है। बिम्ब-विधान के द्वारा अत्यधिक दुःख को अभिव्यक्ति देना ही, यहाँ इस वाग्योग का प्रयोजन है।

मनो जेतुम्

यह एक बहुप्रचलित वाग्योग है। 'मन को जीतना' जैसे हिन्दी प्रयोगों में यह बहुधा दृष्टिगोचर होता है। ऐसा लगता है, जैसे संस्कृत > प्राकृत > अपभ्रंश > हिन्दी के रूप में होने वाले भाषा के विकास के साथ ही वाग्योगों का भी विकास हुआ है। अर्थ की समानता के साथ ही साथ यहाँ ध्वनि की समानता भी बनी रही है।

वस्तुतः, जीतना और हारना तो व्यक्ति का ही होता है, किन्तु, प्रस्तुत वाग्योग में मन के जीतने की बात कही गयी है। इसी लक्षणा के कारण यह वाग्योग चमत्कारी बन गया है।

मन उपैति
अवरुद्धं मनः
मनोऽवेक्षते

उपर्युक्त तीनों वाग्योगों में मन का सम्बन्ध, क्रमशः उपैति, अवरुद्धं और अवेक्षते—इन तीन क्रियापदों से है। अर्थात् इन वाग्योगों में क्रमशः मन के पहुँचने, मन के बँधा हुआ होने और मन के देखने की बात कही गयी है।

वस्तुतः, मन का आना, मन का जाना, मन का मानना, मन का रूठना, मन मैला करना, मन का हारना, मन का जीतना, मन का मिलना, मन मारना, मन मोहना, मन में चढ़ना और मन से उतरना आदि, जितने भी हिन्दी के वाग्योग हैं, उन सभी में यही विलक्षणता है कि अमूर्त मन का भी इन-इन क्रियाओं से सम्बन्ध जोड़ा गया है, जो सम्बद्ध व्यक्ति द्वारा की जाती हैं।

उच्छ्वसितं मनः

एक स्थल पर 'प्रतिमानाटकम्' नाटक में और एक ही स्थल पर अपने 'प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्' नाटक में, भास ने इस वाग्योग का प्रयोग किया है। किसी संकटपूण परिस्थिति या संघर्षमय वातावरण से मुक्त हो जाने पर जब व्यक्ति को थोड़ी-सी राहत मिलती है, थोड़ी-सी शान्ति मिलती है, तब प्रभावित व्यक्ति अपने कथन में इस वाग्योग का प्रयोग करता है। वस्तुतः, शान्ति या राहत को अनुभव करने वाला तो व्यक्ति ही होता है, किन्तु उक्ति में प्रयोग मन का होता है। इस लक्षण के कारण ही यह वाग्योग मान्य है।

भग्नो मनोरथः

इच्छा, अभिलाषा और चाह आदि अर्थों में 'मनोरथ' शब्द रूढ़ हो गया है। 'अवतरत सिद्धिपदं शब्दः स्वमनोरथस्येव'[1] में कालिदास ने इन्हीं अर्थों में मनोरथ शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु, रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से (मनसः रथः = मनोरथः) यह समस्त शब्द एक सुन्दर वाग्योग है। 'मन' कोई राजा या अन्य कोई व्यक्ति नहीं है, जो उसका रथ कहा जाय। फिर भी, चूँकि ऐसा कहा जाता है, इसी विलक्षणता या वचनभङ्गिमा के कारण यह 'वाग्योग' बना है। कालिदास ने भी, वाग्योग के रूप में 'मनोरथ' शब्द का प्रयोग किया है। देखिए :—

"मनोरथानामगतिर्न विद्यते" । कुमारसम्भवम् ५.६४

मनसि श्लिष्यते

आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव होते हुए जब कोई बात मन को भी जँच जाती है, मन भी उसे, उसी रूप में स्वीकार कर लेता है, तब इस

१. मालविकाग्निमित्रम्, १.२२.

वाग्योग का प्रयोग होता है। हिन्दी में, 'मन को जँचना,' 'मन में गड़ना', 'मन में ठुकना' आदि वाग्योगों का प्रयोग इस अर्थ में होता है। भास ने, अपने नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम्' में इसका प्रयोग इस रूप में किया है :—

"न श्लिष्यते में मनसि"। पृ० १५

'मनसि श्लिष्यते' के स्थान पर 'श्लिष्यते मनसि' जैसा, शब्दों के स्थान में परिवर्तन छन्द के कारण है। संस्कृत में छन्दोबद्ध रचनाओं में प्रयुक्त वाग्योगों में प्रायः ऐसा हो जाता है। 'न' का प्रयोग प्रतिषेध के लिए हुआ है। अतः, मूल वाग्योग 'मनसि श्लिष्यते' ही है।

मनो हरति
बद्धं मनः

य द्वेनों ही वाग्योग भाषा में बहुप्रयुक्त है। श्रृंगाररसपूर्ण रचनाओं में इनका प्रयोग प्रायः होता है। प्रथम वाग्योग 'मनो हरति' से, जहाँ आलम्बन के प्रति आश्रय के आकर्षण का संकेत मिलता है वहीं दूसरे 'वाग्योग' 'बद्धं मनः' से आलम्बन में आश्रय की आसक्ति की व्यंजना होती है। जैसा पूर्व भी संकेतित है, मन न तो हरा जाता है और नहीं बाँधा जा सकता है, फिर भी ऐसा कथन किया जाना ही यहाँ विलक्षणता है। यही विलक्षणता वाग्योगों का प्राण होती है।

इस दृष्टि से देखने पर 'मनोहर' शब्द भी एक सुन्दर वाग्योग है, किन्तु रूढ़ हो जाने के कारण अब उसकी विलक्षणता एवं वाग्योग्यता पर हमारा ध्यान ही नहीं जाता है।

'कुशल', 'प्रवीण' आदि अन्य अनेक शब्द ऐसे हैं, जो पहले वाग्योग-जैसा ही चमत्कार रखते थे, किन्तु बहुप्रयुक्त होने के कारण अब वे उसे खो चुके हैं और रूढ़ बन गये हैं।

चित्तं पतति

भास के १३ नाटकों में चित्त-सम्बन्धी यह एक ही वाग्योग है। अत्यधिक दुःख के कारण होने वाली दशा को व्यक्त करने के लिए हिन्दी-बोलचाल में 'दिल बैठना' मुहावरे का प्रयोग किया जाता है। लगभग इसी अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए, संस्कृत में 'चित्तं पतति' वाग्योग उपयुक्त प्रतीत होता है। भास ने अपने 'अभिषेक-नाटकम्' में इसका प्रयोग किया है। मरते हुए वाली को देखकर, भ्रातृशोक से अत्यन्त दुःखी सुग्रीव की यह उक्ति है :—

"हरिवर ! हा पततीव मेऽद्य चित्तम्।"

अर्थात् हे हरिवर (वाली) ! आज तुम्हारी यह दशा देखकर मेरा दिल बैठा जा रहा है।

—:o:—

तृतीय अध्याय : क्रियापद-सम्बन्धी वाग्योग

क्रियापद-सम्बन्धी वाग्योग

क्रियापदों का वाग्योगात्मक प्रयोग प्रायः प्रत्येक भाषा में मिलता है। संस्कृत भाषा भी इसका अपवाद नहीं है। भास के नाटकों में ही क्रियापदों से बने ऐसे अनेक वाग्योग देखने में आते हैं, जिनसे हमारे कथन की पुष्टि हो जाती है।

क्रियापद-सम्बन्धी वाग्योगों में गत्यर्थक धातुओं से बने वाग्योगों की बहुलता है। भास के नाटकों से ऐसे कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं :—

'या' धातु

भूमिं याति लता।	प्रतिमा० ४१	गिर पड़ना।
प्रकाशतां याति कुलम्।	प्रतिमा० १८२	चमक जाना।
पात्रतां याति राजा।	प्रतिज्ञा० ५६	योग्य होना।
याति दुःखं नवत्वम्।	स्वप्न० १०१	नया होना।
याति बुद्धिः प्रसादम्।	स्वप्न० १०१	निर्मल होना।
शूरेषु यामि गणनाम्।	पञ्चरा० २६	गिना जाना।
यातः कृतार्थगणनाम्।	कर्णभा० २७	गिना जाना।

'गम्लृ' (गम्, गच्छ) धातु

निश्चयं गच्छतु।	प्रतिज्ञा० ५५	निश्चय करना।
निश्चयं गमिष्यति।	प्रतिज्ञा० ५५	निश्चय करना।
निश्चयो गम्यते।	प्रतिज्ञा० ७०	निश्चय करना।

'व्रज' धातु

मोहं व्रजामि।	अविमा० ३२	मोहग्रस्त होना।
शोकं व्रजामि।	अविमा० ३२	शोकग्रस्त होना।
व्यथां व्रजेत्।	स्वप्न० १०५	दुःखी होना।

इण् (इ) धातु

शरीरं तनुतामेति।	अविमा० ३२	दुबला-पतला होना।

उपर्युक्त वाग्योगों में से सात में 'या' धातु का, तीन में गम् धातु का, तीन ही में 'व्रज' धातु का और केवल एक में 'इण्' धातु का वाग्योत्मक प्रयोग हुआ है।

यहाँ, यह कह देना भी अनुपयुक्त नहीं होगा कि भले ही साधारणतया देखने पर हमें उपर्युक्त उदाहरणों में किसी वाग्योग की उपस्थिति का ज्ञान न हो, किन्तु,

भाषापरक विश्लेषण की दृष्टि से, निश्चय ही हम इन प्रयोगों को वाग्योग की संज्ञा देंगे। क्योंकि 'पतति' और 'भूमिं याति'—इन दोनों ही क्रियापदों का अभिधार्थ 'गिरना' होते हुए भी, प्रयोग की दृष्टि से इन दोनों में अन्तर है। 'पतति', जहाँ एक सामान्य प्रयोग है, वहाँ 'भूमिं याति' यह एक विशिष्ट प्रयोग है। सामान्य प्रयोग से हटकर एक विलक्षण प्रयोग है। इस विलक्षणता के कारण ही, यह वाग्योग है।

आधुनिक 'शैलीविज्ञान' में इसी को 'विपथन', 'विचलन' (deviation) कहा जाता है—तात्पर्य है सामान्य प्रयोग से हटकर विशिष्ट भाषिक प्रयोग। ऐसे ही प्रयोगों के कारण, कविविशेष की शैली में एक विलक्षणता आती है, एक नयापन आता है। ऐसे ही प्रयोगों के कारण एक कवि को दूसरे कवि से भिन्नरूप में पहचाना जाता है।

इसी प्रकार 'निश्चिनोति' के स्थान पर 'निश्चयं गच्छति' तथा 'शोचामि' के स्थान पर 'शोकं व्रजामि' आदि सभी उपर्युक्त प्रयोगों में विलक्षणता होने के कारण ही, हमने उन्हें वाग्योग की संज्ञा दी है।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि सभी भाषाओं में एक ही क्रियापद से बने अनेक वाग्योग उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दी भाषा में ही देखें, तो एक ही 'मारना' क्रियापद से बनने वाले कुछ वाग्योग इस प्रकार हैं :—

मारना = आंख मारना, हाथ मारना,
झख मारना, डींग मारना,
भांजी मारना, गोता मारना,
पाला मारना, मक्खी मारना
गाज मारना, पाकेट मारना, आदि-आदि।

इसी प्रकार भास ने भी 'याति' क्रियापद से बनने वाले अनेक वाग्योगों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। यथा :—

याति = भूमिं याति, प्रकाशतां याति,
पात्रतां याति, नवत्वं याति,
प्रसादं याति, आदि-आदि।

दह धातु

'दह' धातु का भी वाग्योगात्मक प्रयोग भास ने किया है। 'दह' धातु से बने अनेक वाग्योग उनके नाटकों में मिलते हैं। नीचे के उद्धरण यहाँ द्रष्टव्य हैं :—

पुत्रस्नेहो मां दहति।	**उरुभ० ३९.**	जलाना अर्थात्
एतत्तु मां दहति।	**चारुद० १५**	व्याकुल करना।
बालस्नेहेन दह्यते।	**पञ्चरा० ८**	,,

कुलं चारित्रहीनेन दह्यते ।	पञ्चरा० १०	,,
दुष्कुले साधु स्त्रीदोषेण दह्यते ।	पञ्चरा० ११	,,
कामेन दह्यते मे शरीरम् ।	चारुद० १८	,,
दग्धशरीररक्षणार्थं द्यूतोपजीवी संवृत्तः ।	चारुद० ६४	,,
प्रह्लादय व्यसन**दग्धशरीरम्** ।	प्रतिमा० ११३	,,
पुत्रविरहशोकाग्निना **दग्धहृदयः** ।	प्रतिमा० ४७	,,
अये ! रामकथाश्रवण**सन्दग्धहृदयं** मामाश्वासयितुमागताः पितरः ।	प्रतिमा० ६४	,,

उपर्युक्त सभी स्थलों पर 'भस्म करना' अर्थ वाली 'दह्' धातु का प्रयोग 'अत्यधिक व्याकुल करना' अर्थ में ही हुआ है, जो लाक्षणिक अर्थ है ।

रचना की दृष्टि से देखें, तो कुछ वाग्योगों में 'दह्' धातु का कर्तृवाच्य में प्रयोग है, कुछ में कर्मवाच्य में है ।

'दग्धहृदयः' और 'दग्धशरीरम्' आदि वाग्योगों में 'दह्' धातु के क्तान्त कृदन्त रूपों का प्रयोग, समास में हुआ है । हिन्दी में ऐसे प्रयोगों का मुहावरेदार पदबन्ध और अंग्रेजी में Idiomatic Phrase कहा जाता है । हम इन्हें समस्त (समासयुक्त) वाग्योग कह सकते हैं ।

समस्त वाग्योग में प्रयोग की विलक्षणता या पद के लाक्षणिक अर्थ पर ध्यान कम जाता है । संस्कृत में ऐसे प्रयोगों की बहुलता है । सम्भवतः इसी कारण विद्वानों का ध्यान, संस्कृत में वाग्योगों की ओर कम गया है ।

'दा' धातु

संस्कृत में 'दा' धातु से बने 'कर्णं ददाति'—जैसे वाग्योग का प्रयोग अनेक कवियों की रचनाओं में देखने को मिलता है । इस धातु से बना एक वाग्योग तो इतना प्रचलित रहा है कि अनेक नाटककारों ने निर्देशक वाक्य के रूप में अपनी रचनाओं में उसका अनेक स्थलों पर उपयोग किया है । भास ने भी अपने छह नाटकों में, निर्देशक वाक्य के रूप में ही उसका प्रयोग किया है । यथा :—

कर्णं दत्त्वा	=	कर्णभा० २,	बालच० १७
		अविमा० ६७,	प्रतिज्ञा० ९९
		स्वप्न० ७,	चारुद० ९२

इस प्रकार भास ने छः बार इस 'कर्णं दत्त्वा' वाग्योग का प्रयोग किया है, जो इसके प्रयोगबाहुल्य का ही प्रमाण है ।

'श्रुत्वा' अथवा 'सावधानं श्रुत्वा' आदि के स्थान पर 'कर्णं दत्त्वा' प्रयोग, निश्चय ही विलक्षण है । और, यही विलक्षणता इसकी वाग्योग-योग्यता भी है ।

क्योंकि 'कर्णं दत्त्वा' वाग्योग से जिस अर्थ की व्यंजना होती है, वह अन्य किसी भी प्रयोग से सम्भव नहीं है। किसी 'सुनाई न पड़ने योग्य' या 'बहुत धीमे स्वर में सुनाई पड़ने योग्य, बात को जब कोई सुनना चाहता है, तब वह व्यक्ति, वक्ता की ओर को झुककर, जिस प्रकार अपने कान को उसकी ओर कर देता है और तन्मय होकर बड़ी सावधानी से उसकी बात को सुनता है, इस सबकी अभिव्यक्ति केवल 'कर्णं दत्त्वा'—जैसे वाग्योग से ही हो सकती है।

कान देने की वस्तु नहीं है, न देने पर भी कान देने की बात कहना ही, यहाँ चमत्कार है। यह चमत्कार ही इस वाग्योग की शक्ति है।

हिन्दी में भी 'कान देना' वाग्योग एक प्रचलित वाग्योग है। अंग्रेजी में भी 'to lend ear' idiom का प्रयोग इन्ही अर्थों में होता है।

'दा' के स्थान पर 'यच्छ' (देना) धातु का और 'कर्ण' के स्थान पर श्रोत्र शब्द का प्रयोग करते हुए, एक स्थल पर अधोलिखित रूप में भी इस वाग्योग का प्रयोग किया है। यथा—

न च **श्रोत्रं प्रयच्छति** ।	पञ्चरा० १२१	कान देना अथवा सुनना ।

'दा' धातु से बने, भास-प्रयुक्त कुछ अन्य वाग्योग इस प्रकार हैं :—

युद्धं यदा **दास्यति** ।	दूतघ० ४१	युद्ध करना ।
दीयतां मे **रणो** महान् ।	अभिषे० ६१	युद्ध करना ।
चतुर्णां वर्णानाम् **अभयमिव दातुं** व्यवसितः ।	प्रतिमा० १०५	अभय करना ।

'युध्यते' के स्थान पर 'युद्धं ददाति' प्रयोग वाग्योगात्मक ही कहा जायगा। अतः, 'युद्धं दास्यति' और 'दीयतां रणः'—ये दोनों भी वाग्योग ही हैं।

इसी प्रकार 'भयाद् रक्षति' या 'अभयं करोति' के स्थान पर 'अभयं ददाति' कहना भी वाग्योग ही है।

हिन्दी में 'अभयदान' एक वाग्योगात्मक बहुप्रचलित प्रयोग है। भारतीय संस्कृति में भी अभयदान की बड़ी प्रशंसा है। अभयदान करना वीरता का प्रतीक माना जाता है।

गण धातु

हमारा, किसी की **गिनती में आना** इस बात का द्योतक है कि निश्चय ही हम, उस व्यक्ति के लिये कुछ महत्त्व रखते हैं। अर्थात् हमारे महत्त्व के कारण ही हमें कुछ गिनता है। इस आधार पर हिन्दी भाषा में अनेक वाग्योग देखने में आते हैं; जैसे— गिना जाना, गिनती में होना या गिनती में आना तथा अग्रगण्य होना, आदि-आदि।

इस वाग्योग के सम्बन्ध में मनोरंजक बात यह है कि इसका विधेयात्मक प्रयोग उतना नहीं होता जितना निषेधात्मक होता है। उदाहरण के लिए :—

किसी को कुछ न गिनना,
किसी गिनती में न आना, या
न गिना जाना, आदि।

आजकल 'अग्रगण्य होना' ही, केवल एक ऐसा वाग्योग है, जिसका प्रयोग विधेयात्मक (आगे गिना जाने योग्य होना) रूप में देखने में आता है।

संस्कृत में भास के नाटकों में भी 'गण' धातु से बने वाग्योगों का प्रयोग निषेधात्मक रूप में ही, प्रायः हुआ है। देखिए :—

महासेनशब्दमपि **न गणयति**।	प्रतिज्ञा० ६२	न गिनना या कुछ न समझना या महत्त्वहीन मानना।
न गणयति। किं बालः अपण्डितो वा।	प्रतिज्ञा० ६३	,,
न च गणयसि किञ्चित्।	दूतघ० ३७	,,
राज्यैषिण्या नृपतिरसुभि-**र्नैव गणितः**।	प्रतिमा० ६६	,,
क्वासौ तृणव**दगणित**राज्यैश्वर्यः।	प्रतिमा० ५१	,,

ऊपर के सभी वाग्योग निषेधात्मक अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु, भास के ही 'प्रतिमानाटकम्' में विधेयात्मक अर्थ में भी एक स्थल पर यह वाग्योग प्रयुक्त हुआ है। देखिए :—

विगणय मां च यथा तवार्यपुत्रम्। प्रतिमा० १४५ गिनना या मानना

यहाँ रावण की यह उक्ति सीता के प्रति है। जिसमें वह कहता है कि (हे सीते) तुम मुझे वैसा ही समझो जैसा (अपने) आर्यपुत्र (पति) को समझती हो।

कैसी विडम्बना है कि केवल एक ही स्थल पर विधेयात्मक अर्थ में प्रयुक्त यह वाग्योग उस रावण के द्वारा प्रयुक्त हुआ है, जिसका स्वयं का अस्तित्व ही निषेधात्मक है।

बाधृ धातु

बाधृ धातु का अर्थ, अपने मूलरूप में यद्यपि बाधा पहुंचाना, बाधा डालना ही रहा होगा, किन्तु बहुत पहले से ही, जैसाकि भास के प्रयोगों से भी विदित होता है, इसका प्रयोग **पीडा देना** (परेशान करना) अर्थ में ही हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति के किसी कार्य में बाधा आने से, उसे जो पीड़ा होती थी, धीरे-धीरे, सीधे उसी अर्थ में 'बाध्' धातु का प्रयोग होने लगा और बाद में वह उसी अर्थ में रूढ हो गया है। 'कार्य में बाधा आने से पीडा होती है' यह कहने के स्थान पर

यही कहा जाने लगा कि 'बाधा होती है' और इसी से 'पीडा होती है' इस अर्थ की अभिव्यक्ति होने लगी। इस प्रकार 'पीडा देने' के अर्थ में '**बाधते**' का प्रयोग वाग्योगात्मक ही है।

भास के नाटकों में तीन स्थलों पर इस वाग्योग का प्रगोग मिलता है। देखिए :--

निद्रा मां बाधते।	स्वप्न० ११७	(पीड़ा देना) (परेशान करना)
निद्रा मां बाधते।	चारुद० ८१	(,,)
किं **भवान् इदानीं मां बाधते।**	चारुद० ९६	(,,)

वाग्योग का एक लक्षण यह भी है कि वह **बहुप्रयुक्त** होना चाहिए। इस दृष्टि से 'बाधते' निस्सन्देह वाग्योग की कसौटी पर खरा उतरता है। क्योंकि संस्कृत में इसका प्रयोग अनेक कवियों की रचनाओं में मिलता है।

तुल

'तोलना' वाग्योग का प्रयोग 'जाँचना-परखना' अर्थ में हिन्दी भाषा में प्रचलित है। तराजू या तुला से वस्तुओं को तोला जाता है। इस अर्थ में 'तोलना' क्रिया का प्रयोग वाग्योगात्मक नहीं है। किन्तु, जब किसी व्यक्ति को उसकी बातों से तोला जाता है या फिर अपने अनुभव से तोला जाता है, तो वहाँ 'तोलना' का प्रयोग वाग्योग के रूप में होता है। भास ने भी इस वाग्योग का प्रयोग, अपने नाटकों में अनेक स्थनों पर किया है। जैसे :—

कथं **चरित्रं मे तुलयति।**	पञ्चरा० १०८	(परखना तोलना)
लुब्धेति **मां तुलयति।**	चारुद० ११९	(,,)
सर्वांस्तां**स्तुलयति** दोषतो मनो मे।	चारुद० १२०	(,,)
एष मेऽभिनिवेशोऽभिजनेन **तोल्यते।**	चारुद० २८	(,,)

प्रथम तीन स्थलों पर वाग्योग का प्रयोग कर्तृवाच्य में हैं और चौथे स्थल पर कर्मवाच्य में हुआ है।

इसके अतिरिक्त असम्भव कार्य को करने के असफल प्रयास के लिए भी एक स्थल पर भास ने इस वाग्योग का प्रयोग किया है :—

हं मूढः खल्वसि रावणकः यो **मन्दरं हस्तेन तुलयितुकामः।**

अभिषे० ९२

वस्तुतः, यहाँ मूल वाग्योग में थोड़ा परिवर्तन हो गया है अर्थात् 'तुलयितुकामः' न रहकर यह वाग्योग '**हस्तेन मन्दर तुलयितुकामः**' हो गया है। इस रूप में

इसे भिन्न वाग्योग मानना ही उचित हैं। क्योंकि, अब इसका अर्थ भी केवल जाँचना-परखना (तोलना) न रहकर 'हाथ से मन्दराचल को उठाना' अर्थात् 'असम्भव कार्य को करने की इच्छा करना' हो गया है।

हिन्दी भाषा में भी **'हाथ से पहाड़ उठाना'** वाग्योग का प्रयोग देखा जाता है।

'तुलयति' के साथ ही 'तूलयिष्यति' वाग्योग का प्रयोग भी भास ने अपने एक नाटक में किया है। देखिए :—

सर्वो मां **तूलयिष्यति**। चारुद० ६४ (रुई की तरह उड़ाना)

तात्पर्य है कि सभी लोग मुझे **रुई (के समान गुरुत्वहीन) समझेंगे**। यहाँ 'गौरवहीन समझने' के अर्थ में 'तूलयिष्यति' का प्रयोग, वाग्योग ही कहा जायगा।

वञ्च् धातु

'ठगा जाना' या **'ठग लेना'** हिन्दी के प्रमुख वाग्योगों में से एक है। इसका सामान्य अर्थ है कि वास्तविक मूल्य से कम मूल्य देकर किसी से अधिक मूल्य की वस्तु ले ली जाय या कम मूल्य की वस्तु का अधिक मूल्य ले लिया जाये। प्रायः चालाक दूकानदार भोले-भाले ग्राहकों को इस रूप में नित्य ही ठगा करते हैं। किन्तु, व्यापार के क्षेत्र से हटाकर जब भावनात्मक स्तर पर इस वाक्यांश का प्रयोग होता है, तब यह प्रयोग कुछ अधिक चमत्कारपूर्ण हो जाने से, वास्तविक वाग्योग की योग्यता को प्राप्त हो जाता है।

भास ने, ठगना अर्थ वाली 'वञ्च्' धातु से बने इस वाग्योग का प्रयोग अपने नाटकों में कई स्थलों पर किया है। जैसेः—

वञ्चितः खलु **भवान्**।	कर्णभा० २४	(ठगा जाना)
दुर्योधनेनैष **वञ्चमानेन वञ्चितः**।	पञ्चरा० ४७	,, ,,
वञ्चितोस्मि रुमण्वता।	स्वप्न० १२७	,, ,,
अहं दृष्ट्या वञ्चितस्तदा।	स्वप्न० १६५	,, ,,
हन्त, **वञ्चिताः स्मः**।	चारुद० ३०	,, ,,

उपर्युक्त स्थलों में से एक भी ऐसा स्थल नहीं है, जहाँ पर व्यापारिक क्षेत्र में इस वाग्योग का प्रयोग हुआ है। व्यापारिक क्षेत्र का सामान्य वाग्व्यवहार ही भावनात्मक स्तर पर किस प्रकार वाग्योग बन जाता है, ये उदाहरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं।

मुष् धातु

'लुट जाना' का प्रयोग भी हिन्दी में पर्याप्त मात्रा में होता है। सामान्य अर्थ तो इसका भी यह है कि किसी से उसके उपभोग की वस्तु को छीन लिया जाय और इस प्रकार उस वस्तु को उसके अधिकार से हटाकर अपने अधिकार में कर लिया जाय। इस दृष्टि से संसार में, प्रतिदिन ही सैकड़ों लोग लुटते रहते हैं। किन्तु, यह लुटना' भी जब भावात्मक स्तर पर होता है, तो सामान्य वाग्व्यवहार का यह

वाक्यांश भी वाग्योग बन जाता है। भास ने दोनों ही रूपों में इसका प्रयोग किया है।

सामान्य वाग्व्यवहार में, यथा—मुषितोऽस्मि। चारुद० ९०.

यहाँ, चारुदत्तम् नाटक में यह विदूषक की उक्ति है, जिसमें उसने आभूषणों की पेटी के चोरी होने के प्रसंग में इसका प्रयोग किया है।

वाग्योग के रूप में—हा, हा, परिमुषिताः स्मः। मध्यम० १९.

यहाँ 'मध्यमव्यायोग' नाटक में यह एक वृद्ध पिता की उक्ति है, जिसमें अपने बड़े पुत्र के मारे जाने की आशंका पर वह इस वाग्योग का प्रयोग करता है।

'हन' धातु

यथार्थ में 'न मरने' या 'न मारे जाने' पर भी 'मर गये' या 'मारे गये'—आदि वाक्यों का प्रयोग, हिन्दी में वाग्योग के रूप में प्रायः होता है[1] इसी रूप में भास के नाटकों में भी इस वाग्योग का प्रयोग हुआ है। जैसेः—

हताः स्मः।	मध्यम० ११	मारा जाना।
अद्य, **हतोऽस्मि।**	चारुद० १००	,,

यहाँ वक्ता स्वयं अपने लिये ही 'मारे जाने' की बात कर रहा है, इस वाग्योग का यही चमत्कार यहाँ महत्त्वपूर्ण हैं।

इसी प्रकार :—

कुलद्वयं हन्ति मदेन नारी।	अविमा० ६.	नष्ट करना या बरबाद करना।

यहाँ तात्पर्य है कि मतवाली अर्थात् उच्श्रृंखला नारी पिता के कुल को और पति के कुल को—दोनों ही कुलों को बरबाद कर देती है। 'हन' धातु का वाच्यार्थ 'मारना' है, किन्तु उपर्युक्त वाग्योग में 'हन' का लक्ष्यार्थ ही अपेक्षित है अर्थात् मतवाली नारी दोनों कुलों की प्रतिष्ठा को नष्ट कर देती है। इसी लक्ष्यार्थ में यहाँ 'हन्ति' क्रियापद का प्रयोग वाग्योग के रूप में हुआ है।

कथा छिद्, आशा छिद्

संस्कृत में, 'छिद्' (छिदना, टूटना) धातु का भी वाग्योगात्मक प्रयोग मिलता है। भास ने अनेक स्थलों पर इस रूप में 'छिद्' धातु का प्रयोग दिया है। देखिएः—

छिद्यतां कथा।	दूतवा० २७	(बात छोड़ना)
छिद्यतामेषा कथा।	अभिषे० ५५	,,
एवं ते **आशा छिद्यताम्।**	चारुद० ४	आशा नष्ट होना

उपरि उद्धृत सभी स्थलों पर स्थूल वस्तु की अपेक्षा सूक्ष्म वस्तु—कथा, आशा से छिद् धातु का अन्वय होने के कारण यह वाग्योग बने हैं।

कार्यं साध

हिन्दी में 'काम साधना' भी एक मुहावरा है। प्रायः बोलचाल में इसका प्रयोग होता है। देखने पर यह संस्कृत में भी इसी रूप में मिलता है। भास के कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं:—

पाण्डवानां **कार्यमहमेव साधयामि।** दूतवा० ३५ 'काम साधना'

देशकालाविरोधेन **साधयितव्यं कार्यम्।** अविमा० २० ,,

इसी के साथ 'काम बनना' मुहावरे का भी संस्कृत रूप, भास में इस रूप में मिलता है:—

कार्यसिद्धिमिव पश्यामि। अविमा० २०

ऐसा लग रहा है कि जैसे 'काम बन गया है।"

प्रमाणं लङ्घ

हिन्दी में, बोलचाल में '**अपनी औकात भूलना**, '**अपनी हस्ति भूलना**' 'अपनी सीमा लाँघना' या 'पायजामे से बाहर होना' वाग्योग का प्रयोग प्रायः देखा जाता है। परस्पर आरोप-प्रत्यारोप लगाते समय वक्ता-श्रोता इसका प्रयोग किया करते हैं। ऐसी ही एक परिस्थिति में भास ने भी, ऐसे ही एक वाग्योग का प्रयोग किया है:—

क्षिपसि, वदसि रूक्षं **लङ्घयित्वा प्रमाणम्।** दूतघ० ३७

'दूतघटोत्कचम्' नाटक में घटोत्कच के प्रति यह दुर्योधन की उक्ति है। दुर्योधन की तुलना में, दूत बनकर आने वाले 'घटोत्कच' का अस्तित्व निश्चय ही कम है। यही कारण है कि दुर्योधन द्वारा प्रयुक्त 'लङ्घयित्वा प्रमाणम्' वाग्योग यहाँ बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

वस्तुतः, 'दूतघटोकचम्' नाटक का यह सम्पूर्ण प्रसंग ही संस्कृत के वाग्योगों से भरा पड़ा है। कारण यह है कि ऐसे स्थलों पर, प्रतिद्वन्द्वी पात्रों के संवाद बहुत ही प्रवाहपूर्ण और तीखे होते हैं और ऐसे ही स्थलों पर किसी भी भाषा के वाग्योगों का प्रयोग सर्वाधिक देखने में आता है। उपर्युक्त पंक्ति में **क्षिपसि**, '**वदसि रूक्षम्**' और '**लङ्घयित्वा प्रमाणम्**'—ये तीन वाग्योग एक साथ दिखलायी पड़ते हैं। क्रमशः इनका अर्थ है—बुरा-भला कहना, रूखा बोलना और 'औकात भूलना'।

जिह्मतां मुच्

इस वाग्योग का बहुत ही सुन्दर प्रयोग, भास ने अपने एक नाटक में किया है। देखिए:—

एवं सान्त्वी कृतोऽप्येष **नैव मुञ्चति जिह्मताम्।**

—पञ्चरा० पृ० ३७.

अर्थात् अनेक प्रकार से सान्त्वना देने पर भी यह (शकुनि) अपनी कुटिलता को नहीं छोड़ रहा है।

हिन्दी में 'टेढ़ी चाल चलना' या 'टेढ़ा-टेढ़ा चलना' अथवा 'टेढ़ापन न छोड़ना' आदि मुहावरों का प्रयोग प्रायः होता है।

अलम्+कृ

'अलङ्करोति' संस्कृत भाषा का बहुत ही प्रचलित वाग्योग है। इतना प्रचलित कि इसके प्रयोक्ता को भी प्रायः यह भान नहीं होता कि वह किसी वाग्योग का प्रयोग अपनी भाषा में कर रहा है।

भास ने अधोलिखित स्थलों पर इस वाग्योग का प्रयोग किया है:—

भट्टारक, **अलङ्क्रियतां शयनतलम्**। अविमा० ७६ (सुशोभित करना)

भोः, **कतरकुलान्वयो भवतालङ्क्रियते**। अविमा० १०२ ,,

वस्तुतः, उपर्युक्त उदाहरण केवल वाग्योग के ही नहीं, अपितु वाग्योगात्मक वाक्य के सुन्दर उदाहरण हैं। क्योंकि, 'शयनतल पर बैठिए' के स्थान पर 'शयनतल को सुशोभित कीजिए' और 'आप किस कुल के हैं' के स्थान पर 'कौन सा कुल आपसे सुशोभित होता है'—यह सारा वाग्व्यवहार ही वाग्योगात्मक है।

पृष्ठतः कृ, अग्रतः कृ

जब दो या अधिक कार्य या विषय या व्यक्ति हमारे सम्मुख होते हैं तो प्रस्तुत परिस्थिति में, उनके महत्त्व का आकलन करके हम उनमें से किसी एक को महत्त्व देते हैं और शेष की उपेक्षा कर देते हैं। या तुलनात्मक दृष्टि से एक को अधिक महत्त्व देने के लिये हम दूसरे को कम महत्त्व देते हैं। इस प्रमुखता और गौणता की अभिव्यक्ति के लिये भास ने अपने नाटकों में दो बहुत ही सुन्दर वाग्योगों का प्रयोग किया है। यथा:—

सामान्यदूतसत्कारं **पृष्ठतः कृत्वा** सुखमिव निवेश्यताम्। प्रतिज्ञा ४३

तथा

भवन्त**मग्रतः कृत्वा** सुहृज्जनदर्शनम्। स्वप्न० १०६

प्रथम वाक्य में **पृष्ठतः कृत्वा** वाग्योग से वक्ता का तात्पर्य है कि सामान्यतया दूत को जो सत्कार दिया जाता है, उसको अनदेखा करके अर्थात् उसकी चिन्ता न करके (अर्थात् अधिक सम्मान के साथ) आने वाले व्यक्ति को ठहराया जाय।

द्वितीय वाक्य में 'पृष्ठतः कृत्वा' वाग्योग के विपरीत 'अग्रतः कृत्वा' वाग्योग से तात्पर्य है कि सुहृज्जन से मिलना तो है ही, किन्तु आपको '**आगे रखकर**' अर्थात् महत्त्व देकर ही मिलना है।

इस प्रकार ये दोनों ही वाग्योग वक्ता के तात्पर्य की अभिव्यक्ति में यहाँ बहुत ही उपयुक्त हैं। भाषा में इनके प्रयोग से निश्चय ही अर्थगाम्भीर्य बढ़ा है।

इन दोनों ही वाग्योगों की गणना हम भास प्रयुक्त श्रेष्ठ वाग्योगों में कर सकते हैं।

उत्सङ्गं कृ (झोली फैलाना)

भारतीय संस्कृति में दान की बड़ी महिमा है। ब्राह्मण आदि को दान देने के साथ ही उपयोगी सेवा करने वाले अनुचरों आदि को भी प्रसन्नता के कारण पुरस्कृत किया जाता था। हर्ष का समाचार मिलने पर राजा आदि सम्पन्न लोग समाचार देने वाले को पुरस्कार देते थे। समाचार पाने वाला व्यक्ति प्रसन्न होकर प्रायः ही अपने शरीर से आभूषण आदि उतार कर दे दिया करता था और पुरस्कार लेने वाला व्यक्ति अपनी झोली में उस पुरस्कार को ग्रहण करता था। इसीलिए भास ने भी अपने नाटक में इस वाग्योग का प्रयोग किया है। देखिए:—

विशालतरमुत्सङ्गं कुरु। प्रतिमा० १५

'प्रतिमानाटकम्' में राम के अभिषेक की सूचना देने वाली चेटी के प्रति सीता की यह उक्ति है। अधिक पुरस्कार के लिए झोली भी बड़ी ही होनी चाहिए। अतः, वाग्योग में विशालतरम् विशेषण का प्रयोग है।

'झोली-फैलाना' अनुचरत्व का भी सूचक है और विनम्रता का भी।

आत्मस्तवं कृ

भारतीय संस्कृति में, स्तुति के योग्य केवल देवता ही हैं। इसीलिए राजस्तुति को भी चाटुकारिता में ही गिना जाता है। तब, आत्मस्तुति या आत्मस्तव को तो उचित माना ही नहीं जा सकता। इतना ही नहीं, इन शब्दों तक का प्रयोग हमारी भाषा में, प्रतिषेधात्मक वाक्यों में ही मिलता है। भास की भाषा भी इसका प्रमाण है। यथा:—

अलमात्मस्तवं कर्तुम्। पञ्चरा० ९५,

अर्थात् 'अपने मुँह मिया मिट्ठू, मत बनो।

उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग वाग्योग के रूप में ही हुआ है।

दुष्करं कृ

कठिनाइयों से पूर्ण जीवन बिताने के लिए संस्कृत में 'दुष्करं कृतम्' वाग्योग का प्रयोग देखने में आता है। कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में भी यह प्रयुक्त हुआ है। भास ने भी इसका प्रयोग किया है। देखिए :—

पित्रा मे दुष्करं कृतम्।	प्रतिमा० १०९	(कठिनाइयाँ झेलना)
दुष्करं खल्वहं करोमि।	स्वप्न० ७८	,,
सर्वथा दुष्करं कृतम्।	चारुद० ३९	,,

इस प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए, वस्तुतः ही यह सुन्दर और उपयुक्त वाग्योग है।

कृतकृत्यं कृ

संस्कृत का यह वाग्योग हिन्दी में भी प्रायः इसी रूप में प्रयुक्त होता चला आ रहा है। प्रयोग करने वालों को इसका ज्ञान भी नहीं होता कि वे किसी वाग्योग का प्रयोग अपनी भाषा में कर रहे हैं। वस्तुतः, यही इस वाग्योग के बहुप्रयुक्त होने में प्रमाण है। भास ने 'प्रतिमानाटकम्' के अधोलिखित वाक्य में इस वाग्योग का प्रयोग किया है :—

इदानीं भूमिपालेन कृतकृत्याः कृताः प्रजाः। प्रतिमा० ८

लिङ्ग और वचन के अनुसार इस वाग्योग का प्रयोग अनेक रूपों में हो सकता है। यथा :—

कृतकृत्यः (पुंल्लिङ्ग, एकवचन)
कृतकृत्या (स्त्रीलिंग ")
कृतकृत्यम् (नपुंसकलिङ्ग ")

आदि-आदि।

ओष्ठगतं √कृ

ओष्ठगतं करिष्यामि। स्वप्न० १२० (मुँह पर चढ़ाना, दिमाग में बैठाना)

किसी बात को भली-भाँति स्मरण करने के लिए, बार-बार बोलकर उसे याद करने के लिए इस वाग्योग का प्रयोग भास ने किया है। देखिए :—

यावदोष्ठगतं करिष्यामि। स्वप्न० १२०

राजा द्वारा बतलाये गये 'राजा ब्रह्मदत्त और नगर काम्पिल्य' इस वाक्य को बार-बार बोलकर स्मरण करने के लिए विदूषक ने इस वाग्योग का प्रयोग किया है।

अनुपदं गम्

तात्पर्य है, बिना विलम्ब किये, पूर्व प्रस्थान करने वाले व्यक्ति के ही अनुकूल गमन करना। पूर्व प्रस्थान करने वाले व्यक्ति को आश्वस्त करने के लिए ही इस वाग्योग का प्रयोग किया जाता है। भास ने, इसी रूप में इस वाग्योग का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ :—

राजा—देवि ! त्वमभ्यन्तरं प्रविश्याश्वासय कुरङ्गीम्। अहमप्यनुपदमागमिष्यामि। अविमा० १५

मार्गेण आरभ

जब कोई व्यक्ति कुटिलता आदि को छोड़कर उचित व्यवहार करने लगता है, तब उसके लिए हिन्दी में कहा जाता है कि अब (अमुक व्यक्ति) रास्ते पर आ

गया है। **रास्ते पर आना**, यह हिन्दी में प्रयुक्त होने वाला एक प्रसिद्ध वाग्योग है। भास ने भी इस वाग्योग का प्रयोग किया है :—

एष इदानीं **मार्गेणारब्धः** । पञ्चरा० ३५

अर्थात् अब इसने ठीक (उचित) **रास्ता पकड़ा** है।

परिच्छदं उपभुज्

शराब पीना, जुआ खेलना आदि व्यसनों में फँसा हुआ व्यक्ति, धन की कमी के कारण, अन्ततः अपने प्रतिदिन के उपभोग में आने वाली घर की वस्तुओं और अपने पहिनने के कपड़ों को भी बेच डालता है और उनसे मिले हुए धन को भी व्यसन में लगा देता है। भास ने एक स्थल पर इस विचार को भी वाग्योगात्मक अभिव्यक्ति दी है। देखिए :—

स्रुग्भाण्डमरणीं दर्भानुपभुङ्क्ते हुताशनः ।
व्यसनित्वान्नरः क्षीणः **परिच्छदमिवात्मनः** ॥ पञ्चरा० १३

यहाँ अग्नि का वर्णन उपमेय है, व्यसनी व्यक्ति उपमान है। भास ने यहाँ अभिव्यक्त किया है कि जिस प्रकार व्यसनी व्यक्ति धन के कम हो जाने पर अपने वस्त्रों को भी (बेचकर) खा जाता है, उसी प्रकार यज्ञ का अग्नि ईंधन के कम होने वाले यज्ञ के साधन-स्रुग्भाण्ड, अरणी और दर्भों को भी खा जाता है, जला डालता है।

यह वाग्योग, भास के लोकानुभव का परिणाम है। जिससे ज्ञात होता है कि अनेक वाग्योगों का प्रादुर्भाव लोकानुभव के आधार पर भी होता है।

दूरमारोप्य पातितः

'चढ़ाकर गिराना' ऐसा वाग्योग है, जिसका प्रयोग ऐसे व्यक्ति के लिए किया जाता है, जिसे अयोग्य होने पर भी पहले तो प्रतिष्ठा दे दी जाती है और बाद में अकस्मात् उस प्रतिष्ठा से वंचित कर दिया जाता है। अधिक प्रतिष्ठा देने पर 'आसमान में चढ़ाना' वाग्योग भी प्रयोग में लाया जाता है। भास ने भी इस वाग्योग का प्रयोग किया है। देखिए :—

अहं चण्डप्रवातलण्डित इव वरण्डः पर्वतात् **दूरमारोप्य पातितोऽस्मि** ।
—चारुद० ४ (ऊपर चढ़ाकर गिराना)

पर्वत स्वयं ही ऊँचा होता है, उस पर पड़े हुए तिनके को प्रचण्ड अन्धड़ जैसे पहले तो और भी अधिक ऊपर आसमान में उड़ा ले जाता है और फिर उसे पर्वत की अपेक्षा भी धरती पर गिरा देता है, वैसे ही मेरी दशा हुई है—वक्ता का यही तात्पर्य यहाँ इस वाग्योग से प्रकट हो रहा है।

व्याख्यानमेव कथ

जहाँ संक्षेप से ही प्रयोजन पूरा होता हो, वहाँ लम्बी ऊबाऊ वार्ता सुनकर ऊबा हुआ व्यक्ति प्रायः कह उठता है कि आप तो व्याख्यान ही देने लगे। यहाँ वक्ता द्वारा **'व्याख्यान देना'** वाग्योग का प्रयोग हुआ है।

भास ने भी इस वाग्योग का प्रयोग किया है। देखिए :—

'शुकसारिकाऽपि **व्याख्यानमेव कथयितुमारब्धा**। अविमा० १२२

'अविमारकम्' नाटक में यह प्रेमाकुल कुरङ्गी की उक्ति है। उसके मनोविनोद के लिए रक्खी गयी शुकसारिका अब उसके मनोरंजन की बातें न करके उसके मन को ऊबाने वाले बोझिल व्याख्यान से देने लगी है। श्रोता की ऊबन की व्यंजना करने में ही यहाँ इस वाग्योग की उपयोगिता है।

विषयेषु मज्ज्

सामान्यतया 'पानी में डूबना' कहा जाता है, जिसे हम वाग्व्यवहार मानते हैं। किन्तु जब 'डूबना' क्रिया का प्रयोग 'अकार्यों में डूबना' या 'विषयों में डूबना' के रूप में किया जाता है, तब यह प्रयोग 'वाग्योग' ही कहलाता है। भास के नाटकों में भी ऐसे वाग्योग मिलते हैं :—

मज्जमानमकार्येषु पुरुषं **विषयेषु** वै। अभिषे० ११५

(i) अकार्यों में डूबना

(ii) विषयों में डूबना

भवद्यत्नै खलु वयं **मज्जमानाः** समुद्धृताः। स्वप्न० १६६

दूसरे उदाहरण में विपत्तियों में डूबने के अर्थ में मज्जमानाः का प्रयोग हुआ है।

संज्ञां प्रयच्छ्

हिन्दी में 'इशारा करना' या संकेत करना जैसे वाग्योगों का प्रयोग जिस अर्थ में होता है। संस्कृत में, भास ने उसी अर्थ में अधोलिखित वाग्योगों का प्रयोग किया है :—

एष कामपि **संज्ञां प्रयच्छति** जनार्दनः। उरुभ० २२

यावदहमपि सुहृज्जनस्य **संज्ञां करोमि**। प्रतिज्ञा० ११०

यहाँ, तात्पर्य है कि अन्य लोगों से छिपाकर कोई ऐसा 'इशारा' किया जाय, जिससे दूसरे, इशारा करने वाले के अभिप्राय को न समझ पायें।

न्यासं-निक्षिप

पुनः, वापिस लेने के लिए जब हम अपनी कोई वस्तु किसी विश्वासपात्र व्यक्ति के पास रखते हैं, तो वह 'धरोहर' कहलाती है। और उसके रखने की क्रिया

को 'धरोहर रखना' कहा जाता है। संस्कृत में वस्तु के लिए 'न्यास' और रखने के लिए 'निक्षेप' शब्द का प्रयोग होता है। न्यास केवल वस्तु ही नहीं, व्यक्ति भी हो सकता है। भास के नाटकों में कई स्थलों पर **'न्यास-निक्षेपणम्'** वाग्योग का प्रयोग मिलता है। यथा :—

वसुदेवस्य दारको नन्दगोपस्य **हस्ते**
न्यासो निक्षिप्तः। बालच० २० — धरोहर रखना
भट्टिन्या **हस्ते**...**न्यासो निक्षिप्तः**। स्वप्न० १५९ ''
पद्मावत्या **हस्ते न्यास** इति **निक्षिप्ता** (स्वसा) स्वप्न० १६१ ''

उपरि उद्धृत तीनों ही स्थलों पर **'हस्ते न्यासो निक्षिप्तः'** इस विशिष्ट शब्दावलि का प्रयोग हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि यह भास की शैली का एक विशिष्ट अंग है। अतः इसे वाग्योग ही माना जाना चाहिए।

वैरं निर्यातय्

जब किसी व्यक्ति के द्वारा किये गये शत्रुतापूर्ण व्यवहार के बदले हम, उस से भिन्न व्यक्ति के साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार अथवा दुर्व्यवहार करते हैं तो 'वैर निकालना' वाग्योग का प्रयोग भाषा में होता है। भास ने भी ऐसी ही परिस्थिति में उपर्युक्त वाग्योग का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ :—

राज्ञो **वैरं** गोषु **निर्यातयन्ति**। पञ्चरा० ५८

प्रस्तुत वाक्य में, कौरवों के विषय में कहा गया है। कौरवों का वैर विराट से है, किन्तु वे गायों को परेशान करके उस वैर का बदला ले रहे हैं अर्थात् विराट् का वैर गायों पर निकाल रहे हैं।

शरीरमात्रं विनिर्गम्

वस्तुतः, शरीर और मन, साथ-साथ ही रहते हैं। किन्तु प्रेम आदि के कारण, जब किसी व्यक्ति को अपनी प्रिय वस्तु से दूर जाना पड़ता है, तब इसी प्रकार की अभिव्यक्ति होती है। तात्पर्य होता है प्रेमासक्ति की अधिकता को व्यक्त करना। भास ने 'अविमारकम्' नाटक में इस वाग्योग का प्रयोग किया है। देखिए :—

कन्यापुरात् कथमपीह **विनिर्गतं** मे
भाग्यावशेषमवलम्ब्य **शरीरमात्रम्**। अविमा० ६०

अविमारक कहता है कि कुरङ्गी के महल से उसका केवल शरीर ही बाहर आ पाया है, मन वहीं कुरङ्गी के समीप रह गया है।

जगद्व्याप्तं दृश्

कोई भी व्यक्ति या वस्तु, जो शरीरधारी है, वह सम्पूर्ण संसार में व्याप्त नहीं हो सकती। किन्तु, उसके प्रभाव की अधिकता व्यक्त करने के लिए कभी-कभी

इस प्रकार के प्रयोग भाषा मे करने पड़ते हैं। भास ने 'पञ्चरात्रम्' नाटक में इस प्रकार की एक अभिव्यक्ति की है। यथा :—

जगद्व्याप्तान् भवन्तः किं सर्वे **पश्यन्ति पाण्डवान्**। पञ्चरा० ११८

शकुनि की यह उक्ति द्रोण आदि के प्रति है। इसमें शकुनि ने पाण्डवों को महत्त्व देने वाले द्रोण के दृष्टिकोण की आलोचना की है। वह कहता है कि पता नहीं क्यों, आप लोगों को सारे संसार में पाण्डव ही पाण्डव दिखलायी पड़ते हैं, अन्य कोई भी नहीं। शकुनि का यह कथन पाण्डवों के साथ ही साथ कौरवों के प्रति भी व्यंग्यात्मक है।

विमुखी भू

जब सम्पन्न अवस्था में साथ देने वाले लोग विपन्नावस्था में साथ छोड़ देते हैं, तब इस वाग्योग का प्रयोग होता है। भास ने भी इसका प्रयोग किया है। देखिए :—

निर्वैरा **विमुखी भवन्ति** सुहृदः। चारुद० १६

'चारुदत्तम्' नाटक में यह दरिद्र हुए चारुदत्त की उक्ति है। तात्पर्य है कि बिना किसी बैर के भी मित्रगण (दरिद्रता में) मुँह फेर लेते हैं।

सकाम भू

भास ने अपने एक नाटक में इस वाग्योग का प्रयोग किया है। यथा :—

"**सकाम** इदानीमार्ययौगन्धरायणो **भवतु**।" स्वप्न० पृ० ३९

वासवदत्ता मन ही मन कह रही है कि राजा को मेरे जलकर मर जाने की बात का विश्वास दिलाकर यह मन्त्री यौगन्धराण अपनी कामना पूरी करले, भले ही मेरे लिए यह सुनना और राजा को दुःखी देखना कठिन हो रहा है, परन्तु, यह जो चाहता है, वह बात हो जाय।

दह्यमानस्य क्षारी भू

सम्प्रति हि मदनेनान्त**र्दह्यमानस्य क्षारीभवितु**मारब्धो भगवान् सूर्यः सहस्ररश्मिः। अविमा० ९२

'जले पर नमक होना' हिन्दी का एक प्रसिद्ध वाग्योग है। कहीं-कहीं 'कटे पर नमक होना'—जैसे रूप में भी यह देखा जाता है। हिन्दी में इसके मूलरूप के विषय में भी विवाद है कि उपर्युक्त वाग्योग का मूलरूप 'जले पर नमक होना' है कि 'कटे पर नमक होना' है। भास के द्वारा प्रयुक्त वाग्योग, जैसा कि हम प्रस्तुत वाक्य में देख रहे हैं—**दह्यमानस्य क्षारीभवितुम्**…(जले पर नमक होना) है। इससे सिद्ध होता है कि हिन्दी में भी इस वाग्योग का यही मूलरूप रहा होगा, बाद में कभी यही वाग्योग परिवर्तित होकर 'कटे पर नमक होना' वाग्योग बन गया है।

आजकल इन दोनों ही रूपों में इस वाग्योग का प्रयोग हिन्दी में हो रहा है। तात्पर्य है परेशान को और परेशान करना।

न लब्धः क्षणः (मौका न मिलना)

'अविमारकम्' नाटक में, नायिका कुरङ्गी के विषय में यह नायक अविमारक की उक्ति है। वह कुरङ्गी को जो बात बतलाना चाहता था, बहुत जनों से घिरे होने के कारण **मौका न मिलने** से उसे नहीं कह पाया। देखिए :—

अविमारकः—···बहुजनपरिवारतया **न लब्धः क्षणः** कान्तां प्रबोधयितुम्।

—अविमा० १२५

निश्चय ही, यह प्रयोग बहुप्रयुक्त होने के कारण ही वाग्योग की कोटि में परिगणित होता है। प्रायः ही, वक्ता-श्रोता बोलचाल में इस वाग्योग का प्रयोग करते हैं।

स्फीता भवन्त्यापदः

'मुसीबत बढ़ना' हिन्दी में बहुप्रयुक्त वाग्योग है। पहले से ही किसी संकट में फंसा हुआ व्यक्ति जब और संकटों में फंसता है, तब कहा जाता है कि मुसीबतें बढ़ती जा रही है।

भास ने अपने 'चारुदत्तम्' नाटक में नायक चारुदत्त की दरिद्रता के प्रसंग में इस वाग्योग का प्रयोग किया है। देखिए :—

दारिद्र्यात् पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते
सत्त्वं हास्यमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते।
निर्वैरा विमुखीभवन्ति सुहृदः **स्फीता भवन्त्यापदः**
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य सम्भाव्यते॥ चारुद० १६

यह दरिद्र चारुदत्त की उक्ति है। दारिद्र्य से **आपत्तियाँ बढ़ जाती हैं**। यहाँ हमारा तात्पर्य इसी वाग्योग से है। किन्तु, इसके अतिरिक्त भी अनेक अन्य वाग्योग प्रस्तुत उद्धरण में प्रयुक्त हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणार्थ :—

बान्धवजनो **वाक्ये न सन्तिष्ठते**। (बात न मानना)
सत्त्वं **हास्यमुपैति**। (मजाक बन जाना)
शीलशशिनः **कान्तिः परिम्लायते**। (फीका पड़ना)
निर्वैरा **विमुखीभवन्ति** सुहृदः। (मुँह फेरना)

इस उद्धरण से ज्ञात होता कि भास के नाटकों की भाषा अत्यधिक वाग्योगमयी है।

कथायोगो विसंवादितः

'रस-भङ्ग करना' वाग्योग का प्रयोग हिन्दी में उस परिस्थिति में किया जाता है, जब सुने जाते हुए सरस प्रसङ्ग के बीच किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा व्याघात

कर दिया जाता है। भास के नाटक में भी इस वाग्योग का प्रयोग हुआ है। देखिए :—

रमणीयः खलु कथायोगो नृशंसेन विसंवादितः । स्वप्न० १००

राजा और विदूषक के बीच अपने विषय के सरस प्रसंग में व्याघात करने वाले विदूषक के कथन पर पद्मावती की यह उक्ति है। पद्मावती की लालसा थी कि उससे सम्बन्धित वही सरस प्रसंग चलता रहे, किन्तु विदूषक के कथन के कारण वह भङ्ग हो गया। श्रोता (पद्मावती) की खीझ की अभिव्यक्ति करने के लिए ही **'रमणीयः कथायोगो विसंवादितः'** वाग्योग का प्रयोग भास ने यहाँ किया है।

छायापि न दृश्

'छाया भी न दीखना' अर्थात् बिलकुल भी दिखलाई न देना। छाया दिखलायी पड़ने से शरीर के होने का अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु जब छाया भी दिखलाई नहीं देगी तो शरीर का न होना ही माना जायगा। भास ने इस वाग्योग का प्रयोग किया है। देखिए :—

वयस्य ! **छायापि न दृश्यते** किं पुनः शरीरम् । अविमा० १०५

उपर्युक्त हिन्दी का वाग्योग, संस्कृत के वाग्योग का पूरा-पूरा अनुवाद ही है।

कार्यमेवापेक्षते न स्नेहम्

अहो **कार्यमेवापेक्षते** बुद्धिरमात्यानां, **न स्नेहम्** । अविमा० २४

अर्थात् कोई व्यक्ति क्या और कितना (महत्त्व का) काम करता है, मन्त्रियों को यही देखना होता है, न कि उस व्यक्ति से मिलने वाला स्नेह। तात्पर्य यह है कि राजकाज में किसी व्यक्ति का महत्त्व उसके काम से बढ़ता-घटता है न कि उसके प्यार से।

हिन्दी में प्रायः 'काम प्यारा होता है चाम नहीं'—जैसे वाग्योग का ही प्रयोग होता है, जो संस्कृत के ही वाग्योग का थोड़ा परिवर्तित रूप है।

प्रत्ययदत्तमूल्यम्

मूल्य चुकाना, हिन्दी का एक वाग्योग है। सामान्यतया जब हम बाजार से कोई वस्तु क्रय करते हैं, तो उसका मूल्य हम दूकानदार को दे देते हैं। यहाँ मूल्य देना या मूल्य चुकाना वाग्योग नहीं बनता है। किन्तु, जब हम किसी अच्छे कार्य के लिए कोई कष्ट उठाते हैं और अनुभव करते हैं, कि इस कष्ट का कारण हमारा कोई विशेष कार्य या आचरण है, तब 'मूल्य चुकाना' वाग्योग के रूप में प्रयुक्त होता है।

भास ने अपने 'चारुदत्तम्' नाटक में इस वाग्योग का प्रयोग किया है। देखिए :—

एतत्तु मे **प्रत्ययदत्तमूल्यं** सत्त्वं सखे ! न क्षयमभ्युपैति । चारुद० १५

(मूल्य चुकाना)

प्रस्तुत प्रसङ्ग में नायक चारुदत्त ने अपनी दरिद्रता को अपने उस विश्वास का मूल्य बतलाया है, जिसमें दान देना, एक अच्छा कार्य माना जाता है ।

परिखेदस्य वेतनम्

इसी प्रकार 'स्वप्नवासवदत्तम्' नाटक में भी भास ने, एक स्थल पर इस वाग्योग का प्रयोग किया है । देखिए :—

भवतु, भवतु । **दत्तं वेतनमस्य परिखेदस्य** । स्वप्न० ९५

(मूल्य चुकाना)

यह वासवदत्ता की उक्ति है । वासवदत्ता से वियुक्त हुआ भी, जब राजा वासवदत्ता के प्रति अपने अनुराग को प्रकट करता है, तो छिपाकर और वियोगिनी बनाकर दूर रक्खी गयी भी वासवदत्ता अनुभव करती है कि मुझे अपनी कष्टपूर्ण वियोगिनी दशा में रहने का मूल्य मिल गया है । 'मूल्य' शब्द के स्थान पर भास ने यहाँ 'वेतन' शब्द का प्रयोग किया है ।

अपदेशमुक्त्वा (बहाना बनाना)

किसी विशेष कार्य को करने की इच्छा न होने पर जब हमसे वैसा कार्य करने को कहा जाता है, तो कोई न कोई बहाना बनाकर हम उस कार्य को करने से बच जाते हैं । भास ने अपने 'अविमारकम्' नाटक में उपर्युक्त वाग्योग का प्रयोग ऐसी ही परिस्थिति में किया है । देखिए :—

स चास्माभिरतिबाला कन्येत्य**पदेशमुक्त्वा** सुपूजितो विसर्जितः ।

अविमा० २१

'अविमारकम ! नाटक में यह कौन्जायन की उक्ति है । यहाँ राजा कौन्जायन की पुत्री के विवाह का प्रसंग है । एक अन्य राजा सौवीरराज ने अपना दूत भेजा और कौन्जायन से कहलवाया कि वह अपनी राजकुमारी का विवाह सौवीरराज के पुत्र से कर दे । कौन्जायन यह नहीं चाहता था, अतः उसने कह दिया कि 'कन्या अभी बहुत छोटी है' । इसी प्रसंग में, भास ने 'अपदेशमुक्त्वा' वाग्योग का प्रयोग किया है जो यहाँ बहुत ही उपयुक्त है ।

तृणाय मत्वा (तिनका समझना)

संस्कृत का यह प्रसिद्ध वाग्योग है । व्याकरण में भी इसको मान्यता मिली है । प्रतिद्वन्द्वी व्यक्ति को अपनी तुलना में कम शक्तिशाली मानकर उसे तुच्छ बतलाने के लिए 'तृणाय (तृणं वा) मन्' का प्रयोग संस्कृत में होता है । भास ने भी इसका प्रयोग इसी अभिप्राय को व्यक्त करने में किया है । यथा :—

एष इदानीमर्जुनः,

रोषाकुलाक्षः स्फुरिताधरोष्ठ-

स्तृणाय मत्वा रिपुमण्डलं तत् ।
उत्सादयिष्यन्निव सर्वराज्ञः
शनैः समाकर्षति गाण्डिवज्याम् ।। दूतवा० १२

जैसा पूर्व भी संकेत किया गया है उद्वेग और भावावेश वाले सभी स्थलों पर भाषा में वाग्योगों की बहुलता हो जाती है। भास की भाषा भी इसका प्रमाण है। उपर्युक्त उद्धरण में **'तृणाय मत्वा'** वाग्योग के प्रयोग के साथ ही अन्य भी अनेक वाग्योग प्रयुक्त हुए है। यथा :—

रोषाकुलाक्षः = आँखे फाड़ना।
स्फुरिताधरोष्ठः = होट फड़कना।
उत्सादयिन्नव सर्वराज्ञः = सब राजाओं को उखाड़ना।
समाकर्षति गाण्डिवज्याम् = प्रत्यञ्चा खींचना।

उपर्युक्त सभी वाग्योग अर्जुन की क्रोधावस्था की व्यंजना में पूरा-पूरा योगदान कर रहे हैं। केवल वाच्यार्थ से अर्जुन की क्रोधावस्था को प्रकट करना यहाँ सम्भव नहीं है।

तृणं √दा

'न दास्ये तृणमपि स्वराज्ये। दूतवा० ३० (एक तिनका भी न देना)

तात्पर्य है किसी वस्तु का छोटे से छोटा अंश भी न देना। इसका प्रयोग भी अनेक स्थलों पर होता है। विशेषतः महाभारत में यह दुर्योधन की उक्ति के रूप में बहुत प्रसिद्ध है।

बलाबलं परिज्ञा

'भला-बुरा सोचना' हिन्दी का बहुप्रयुक्त वाग्योग है। भास ने भी एक स्थल पर इसका प्रयोग किया है। देखिए :—

बलाबलं परिज्ञाय पुत्रमेकं विसर्जय। मध्यम० १२ (भला-बुरा सोचकर)

'मध्यमव्यायोगः' नाटक में ब्राह्मण के प्रति घटोत्कच की यह उक्ति है। वह कहता है कि अपना हित-अनहित सोचकर, अपने तीनों पुत्रों में से एक मुझे दे दो, जिसे मैं अपनी माँ के भोजन के लिए ले जाऊँ।

संस्कृत में, **सुखदुःखे, लाभालाभौ, जयाजयौ** (गीता) आदि ऐसे अनेक वाग्योग हैं, जिनका प्रयोग प्रायः होता है। किन्तु, उनकी वाग्योग्यता की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता है।

विकीर्ण

क्रियापदों के उपर्युक्त वाग्योगात्मक उदाहरणों के अतिरिक्त कुछ विकीर्ण वाग्योग भी यहाँ प्रस्तुत हैं :—

विमुञ्च रोषम्। उरुभ० २६ (गुस्सा थूकना)
भयं त्यज। अविमा० ८२ (भय छोड़ना)

कुरुष्व प्रसादम् ।	अविमा० ८२	(कृपा करना)
गृह्यतां वल्कलानि ।	पञ्चरा० ११३	(संन्यास लेना)
अपनीय धनुः ।	पञ्चरा० ११३	(वीरता छोड़ना)
काषायं प्रपन्नः ।	स्वप्न० २६	(संन्यास लेना, गेरुवे रंगाना)
गृहं परिपूतम् ।	अविमा० १५९	(घर पवित्र होना)
भवदवतरणेन० ।	अविमा० १५९	(अवतार लेना)
वाणी निःसृता ।	स्वप्न० ९९	(मुँह से बात निकलना)
जाग्रति समुत्पन्नोऽयं दोषः ।	प्रतिज्ञा० १७	(जानते हुए गड्ढे में गिरना)
जाग्रत्या स्वप्नो दृष्टः ।	चारुद० १२४	(जागते हुए स्वप्न देखना)
क्रीतोऽस्म्यहम् ।	अविमा० १०९	(खरीदा जाना)
गुणविक्रीतशरीरः ।	चारुद० ६२	(बिक जाना)
शरीरं विक्रेष्यति ।	चारुद० १११	(शरीर बेचना)
लिखत्यभ्रिखम् ।	दूतवा० १४	(आसमान ताकना)
लब्धावकाशः ।	चारुद० ७७	(मौका मिलना)
समुदाचारो नावेक्षितः ।	दूतवा० ३९	(अनेदेखा करना)
क्रमविशेषो नावेक्षितः ।	प्रतिज्ञा० ५६	(अनेदेखा करना)
अतिक्रान्तः समुदाचारः ।	स्वप्न० ५७, ७९	(मर्यादा लांघना)
विपन्नं कार्यम् ।	पञ्चरा० ३६	(काम बिगड़ना)
सुस्थितं कार्यम् ।	अविमा० ४०	(काम बनना)
अतिपाति कार्यम् ।	पञ्चरा० ५८	(अत्यावश्यक कार्य होना)
,,	अभिषे० ४५	,,

—:०:—

चतुर्थ अध्याय

युद्ध, मृत्यु, जीवन-मरण, सौन्दर्य एवं प्रेम, भाग्य एवं भौतिक पदार्थों से सम्बन्धित वाग्योग

युद्ध-विषयक वाग्योग

भास के नाटकों की कथावस्तु पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि उनके अधिकांश नाटक रामायण और महाभारत से सम्बन्धित हैं। ये दोनों ही ऐतिहासिक महाकाव्य हैं, अतः भास के नाटकों में, अनेक स्थलों पर शत्रु को ललकारने, युद्ध करने के लिए प्रस्तुत होने, युद्ध करने और युद्ध में वीरगति को प्राप्त करने आदि का वर्णन हुआ है। इन स्थलों पर भास ने कुछ बहुत ही अच्छे वाग्योगों का प्रयोग किया है। यहाँ हम, वाग्युद्ध के वर्णन से लेकर युद्ध-भूमि में वीरगति पाने तक के वर्णनों से सम्बन्धित कुछ ऐसे ही वाग्योगों को प्रस्तुत कर रहे हैं।

भास के नाटकों में ऐसे अनेक अवसर आये हैं, जब शत्रु परस्पर, एक-दूसरे पर दोषारोपण करते हैं। इसी विषय को हमने वाग्युद्ध कहा है। वाग्युद्ध-विषयक अनेक वाग्योग भास के नाटक 'दूतघटोत्कचम्' में आये हैं। एक प्रसङ्ग यहाँ द्रष्टव्य है।

'दूतघटोत्कचम्' नाटक में, कृष्ण का दूत बनकर आया हुआ घटोत्कच जब दुर्योधन के सभा भवन में पहुँचता है और शकुनि के प्रति कटूक्तियों का प्रयोग करता है, तब शकुनि का पक्ष लेते हुए दुर्योधन स्वयं आगे आता है और घटोत्कच से कहता है :—

भो भो ! प्रकृतिं गतः।
क्षिपसि, वदसि रुक्षं लङ्घयित्वा प्रमाणम्।
न च गणयसि किञ्चिद् व्याहरन्दीर्घहस्तः॥ दूतघ० ३७,

ध्यान से देखने पर, यहाँ एक साथ ही कई सशक्त वाग्योग प्रयुक्त हुए दिखलायी पड़ते हैं। यथा :—

प्रकृतिं गतः।	(औकात पर आना)
क्षिपसि (अस्मान्)।	(लाँछन लगाना)
वदसि रुक्षम्।	(रूखा बोलना)
लङ्घयित्वा प्रमाणम्।	(औकात भूलना)
न गणयसि किञ्चिद्।	(किसी को) कुछ न गिनना)
व्याहरन् दीर्घहस्तः।	(हाथ फेंक-फेंक कर बोलना)

संस्कृत-वाग्योगों का अनुवाद हमने बोलचाल की सरल हिन्दी भाषा में किया है जिससे संस्कृत-वाग्योगों को समझने में थोड़ी सहायता मिल जाय। वैसे हम यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक भाषा की विशिष्ट प्रकृति के अनुसार ही उसके वाग्योग भी होते हैं, अतः उनका ठीक-ठीक अनुवाद किसी अन्य भाषा में नहीं हो पाता है।

संस्कृत के वाग्योगों के तात्पर्य को ही हम हिन्दी के मिलते-जुलते वाग्योगों से प्रकट कर सकते हैं।

संक्षेप में, ऊपर दिये गये 'दूतघटोत्कचम्' नाटक के उद्धरण से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि अन्य भाषाओं की ही भाँति, संस्कृत में भी वाग्योग हैं। इन वाग्योगों से वक्ता की अभिव्यक्ति बहुत ही पैनी हो जाती है और उसकी अनुभूति को, पूरे परिवेश के साथ, हम बहुत ही प्रभावात्मक ढंग से समझ सकते हैं।

क्षिप् धातु

उपर्युक्त वाग्योगों में 'क्षिपति (तम्) वाग्योग का प्रयोग, अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर, भास के नाटकों में हुआ है। यथा :—

निष्कारणं **क्षिपसि** (माम्)।	अविमा० १५१	लाञ्छन लगाना या
निष्कारणं **प्रक्षिपसि** (माम्)।	अविमा० १५१	दोष मढ़ना
मां बहुधा **क्षेप्तुमारब्धः**।	अविमा० १५१	"
ननु **क्षिपसि माम्**।	दूतघ० ३१	"
क्षिपसि मे **गुरुम्**।	मध्यम० ३७	"
न ते **क्षेपेण** रुष्यामि।	पञ्चरा० १००	"

'क्षिपसि' के स्थान पर 'प्रक्षिपसि' होने का कारण छन्द का बन्धन है। 'क्षेप', क्षिप् धातु से बना संज्ञा शब्द है और 'क्षेप्तुम्' तुमुनन्त रूप है। वाग्योग की दृष्टि से 'क्षिप्' धातु के प्रयोग में कोई अन्तर नहीं है। सभी स्थलों पर, सभी वाग्योगों का एक ही अर्थ है—'लांछन लगाना' या 'दोष मढ़ना'।

युद्ध में वीरता दिखलाने के लिए उत्साह एवं शक्ति की आवश्यकता होती है। भास के नाटकों में ऐसे अनेक वाग्योग हैं, जिनसे युद्ध के लिए आवश्यक उत्साह, शक्ति एवं निश्चय की व्यंजना होती है। यथा :—

प्रतिज्ञासारमात्रेण **कम्पितेयं वसुन्धरा**।	दूतघ० २५	(धरती कांपना)
सुव्यक्तं धनुषि स्पृष्टे **त्रैलोक्यं विचलिष्यति**॥	दूतघ० २५	(तीनों लोकों का डगमगाना)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि आवश्यकता होने पर भास की भाषा, स्वाभाविक रूप से वाग्योग-बहुल हो जाती है। युद्ध के लिए उद्यत योद्धा की शक्ति की अभिव्यक्ति भास ने इन वाग्योगों से की है :—

लोकत्रयं हि **परिवर्तयितुं** समर्थः।	बालच० ९३	(तीनों लोकों का उलटना)
व्यावर्तनं करतलैरिव मन्दरस्य।	अविमा० ११	(मन्दराचल को घुमाना)
गिरिमिव **मन्दरमुद्वहन्भुजाभ्याम्**।	बालच० ११	(पहाड़ उठाना)

इस प्रकार उपर्युक्त वाग्योग उत्साह एवं शक्ति की अभिव्यक्ति में पूर्णतया समर्थ हैं।

युद्ध के प्रसंग में, भास के नाटकों में, धनुष उठाने से सम्बन्ध रखने वाले वाग्योगों का प्रयोग भी मिलता है। महाभारत काल और रामायणकाल में, युद्ध के मैदान में धनुष का बड़ा महत्त्व था। वीरों की श्रेष्ठता की परीक्षा के लिए भी धनुष-यज्ञों का आयोजन होता था।

शनैः-शनैः 'धनुष उठाना' शत्रु को ललकारने और युद्ध के लिए सन्नद्ध होने का प्रतीक बन गया। धनुष को हाथ में लेने का तात्पर्य हो गया—'युद्ध करना'। आगे चलकर तो धनुष को हाथ में लेने की अपेक्षा भी धनुष को छू लेने भर से ही, युद्ध की तत्परता को अभिव्यक्त किया जाने लगा। भास के नाटकों में कई स्थलों पर ऐसे वाग्योगों का प्रयोग हुआ है यथाः—

प्रतिज्ञासारमात्रेण **कम्पितेयं वसुन्धरा।**
सुव्यक्तं **धनुषि स्पृष्टे** त्रैलोक्यं विचलिष्यति ॥ दूतघ० २५ (धनुष उठाना)
यदि न सहसे राज्ञो मोहं
धनुः स्पृश मा दया। प्रतिमा० ३५ (धनुष उठाना)
रोदितव्ये काले सौमित्रिणा **धनुर्गृहीतम्।** प्रतिमा० ३५ (धनुष उठाना)

युद्ध से विमुख होने की अभिव्यक्ति के लिए भी कुछ अच्छे वाग्योगों का प्रयोग भास ने किया है। यथाः—

मुक्त्वा चापमिहैव तिष्ठतु भवान्। पञ्चरा० ४६ (धनुष छोड़ना)
तेन हि **न्यस्यतामायुधानि।** पञ्चरा० ११७ (शस्त्र त्यागना)

इस प्रकार भास ने युद्ध के लिए उद्यत होने तथा युद्ध से विमुख होने—दोनों ही के लिए सुन्दर वाग्योगों का प्रयोग किया है।

धनुष उठाना (धनुः स्पशति) जैसे ही कुछ अन्य वाग्योग भी भास द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, उनसे भी युद्ध के लिये प्रस्तुत होने की सूचना मिलती है। यथाः—

मुष्टिमुद्यम्य तिष्ठत्येष वृकोदरः। दूतघ० ४० (घूसा तानना)
कृतपरिकरबन्धौ (नकुलसहदेवौ)। दूतवा० १२ (फेंटा कसना)
सिंहनादः कृतोऽद्य। कर्णभा० ४ (सिंहनाद करना)
सिंहनादोच्चमन्त्रः (युद्धयज्ञः)। उरुभ० ८ (सिंहनाद करना)

वास्तविक वीर वही है, जिसे सम्मुख देखते ही प्रतिद्वन्द्वी घबरा जाय। इस प्रकार की घबराहट की व्यंजना के लिए, भास ने दो वाग्योगों का प्रयोग अपने नाटकों में किया हैः—

जनयति च मनोज्वरं स्वरोऽयम्। मध्यम० २२ (बुखार चढ़ना)
हा, वत्स ! **सर्वजगतां ज्वरकृत्** ! कृतास्त्र। अभिषे० ९६ (,, ,,)

आजकल भी शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी को सामने देखकर लोगों को बुखार चढ़ जाने की बात की जाती है।

भास की भाषा ऐसे स्थलों पर बहुत ही वाग्योगमयी हो जाती है।

युद्ध का कारण, प्रतिपक्षियों में से किसी न किसी का अहंकार या दर्प ही होता है। अतः, युद्ध में प्रतिपक्षी के दर्प को नष्ट करना भी आवश्यक होता है। दर्प के कारण, अशान्त हुआ व्यक्ति प्रायः गर्वोक्तियाँ करने लगता है। गर्वोक्ति की अभिव्यक्ति वाले वाग्योगों का प्रयोग भास ने प्रतिद्वन्द्वियों के मुख से ही कराया है। भास द्वारा प्रयुक्त ऐसे कुछ वाग्योग यहाँ प्रस्तुत हैं। देखिए:—

अहमस्य **दर्पप्रशमनं करोमि**।	पञ्चरा० ९८	(घमण्ड चूर करना)
दर्पप्रशमनं करोमि।	बालच० १२	(" ")
अहमस्य **दर्पप्रशमनं करोमि**।	बालच० ६१	(" ")
अहमस्य **दर्पप्रशमनं करोमि**।	बालच० ६८	(" ")
उन्मूलितोऽस्य च **मदः**।	दूतघ० १३	(मद उखाड़ना)
दर्पोऽपि भवतो **हृतः**।	उरुभ० ५४	(घमण्ड हरना)
भो, **दर्पाहृतं** दीक्षितैः।	उरुभ० ५५	(" ")

यद्यपि 'गर्व हरण करना' वाग्योग जैसा—प्रयोग भी ऊपर के उदाहरणों में दिखलायी पड़ता है; किन्तु इन सभी वाग्योगों को देखने से ज्ञात होता है कि भास का अभ्यस्त वाग्योग 'दर्प शान्त करना' ही है।

संसार के झंझटों से दुःखी और परेशान व्यक्ति को—'मैं टूट गया हूँ।' जैसे किसी वाग्योग का प्रयोग करते हुए, जब हम सुनते हैं तो हम समझ जाते हैं कि वह व्यक्ति अब 'जीवन में हार' को स्वीकार कर रहा है। हिन्दी वाक्य में प्रयुक्त 'टूटना' शब्द, सम्भवतः संस्कृत के 'भग्न' शब्द का ही स्थानी है। क्योंकि, जैसा हम अभी देखेंगे, भास के नाटकों में ऐसी अभिव्यक्तियों में 'भग्न' शब्द का ही प्रयोग हुआ है।

भास के नाटकों में, युद्ध के प्रसंग में, इस वाग्योग का प्रयोग अनेकत्र मिलता है। यथा:—

शरैर्**भग्नः कर्णः**।	पञ्चरा० ७६	(टूट जाना)
एकेनैव **वयं भग्नाः**।	पञ्चरा० ११९	(")
भग्ना ध्वजैरेव **वयं** न बाणैः।	पञ्चरा० ६६	(")
देवाः सेन्द्रादयो **भग्ना** दानवाश्च मया रणे।	अभिषे० ३६	(")
भनज्म्यद्य बालं दामोदरं रङ्गमध्ये।	बालच० ८९	(")
भग्नापयानेष्वनभिज्ञदोषः।	पञ्चरा० १११	(")

उपरि उद्धृत सभी वाक्यों में 'भग्न' शब्द का प्रयोग किसी न किसी व्यक्ति, और वह भी योद्धा वीर के साथ ही हुआ है। अतः स्पष्ट ही यह प्रयोग 'वाग्योगात्मक' है। तात्पर्य है योद्धा विशेष का हार जाना, पराजित हो जाना, अवरुद्धगति होना अर्थात् 'टूट जाना' या 'टूटना'।

'पराजित होना,' 'हारना' या 'टूट जाना' से भी अधिक हानि की बात है—युद्ध में योद्धा का 'ढेर हो जाना'। लड़ते-लड़ते, युद्ध में प्रतिद्वन्द्वी के प्रहार से आहत होकर जब कोई योद्धा भूमि पर गिर पड़ता है, तब उसकी दशा का वर्णन, कवि द्वारा विशिष्ट शब्दावलि में किया जाता है। हिन्दी में, इसके लिए 'ढेर हो गया' या 'ढह गया' वाग्योग का प्रयोग होता है। भास ने, ऐसी अभिव्यक्ति के लिए 'पत्' धातु के णिजन्त रूप का प्रयोग 'वाग्योग' के रूप में किया है। यथाः—

शत्रुं तवाद्य सहसा **भुवि पातयामि**।	अभिषे० ४	(ढेर करना)
पातयाम्यद्य रामं गिरिवरकूलं यथा वज्रः।	बालच० ८६	(”)
अर्जुनं **पातयित्वा**।	कर्णमा० १४	(”)
कंसहतकं युधि **पातयित्वा**।	बालच० ६१	(”)
रणशिरसि सुतं ते **पातयित्वा**।	अभिषे० ६६	(”)
निपातितः कुमारोऽभिमन्युः।	दूतघ० २	(”)
निपतिततनुः शन्तनुसुतः।	उरुभ० ५४	(ढेर होना)
सुग्रीवमद्य समरे **विनिपात्यमानं** तं पश्य शोणितपरिप्लुतसर्वगात्रम्।	अभिषे० ८.	(”)

युद्ध में, जो 'पराजित होने' और 'ढेर होने' से बच जाते हैं, वे शत्रु का सामना करते हुए वीरगति को प्राप्त होते हैं। ऐसे ही कुछ वीरों के लिए 'सामना करना' और 'पीठ न दिखलाना'—जैसे वाग्योगों का प्रयोग हिन्दी भाषा में होता है। भास के नाटकों में भी ऐसे वाग्योग मिलते हैं। देखिएः—

अपराङ्मुखो युधि हतः।	उरुभ० ४३	(पीठ न दिखाना)
न पराङ्मुखो युधि हतः।	उरुभ० ४५	(”)
तुल्येना**भिमुखं** रणे हतः।	उरुभ० ४७	(”)
गतं भ्रातॄणां मे शतम् **अभिमुखं** संयुगमुखे।	उरुभ० ५४	(”)

इस प्रकार, भास के नाटकों में युद्ध से सम्बन्धित अनेक वाग्योगों का प्रयोग हुआ है।

—:०:—

मृत्यु-विषयक वाग्योग

भास के नाटकों में से अनेक नाटकों का सम्बन्ध 'महाभारत' की कथा से है। 'महाभारत' की प्रमुख घटना महाभारत-युद्ध है। युद्ध में, युद्धरत योद्धा एक-दूसरे का वध करते हैं। परिणामस्वरूप, मृत्यु-विषयक अनेक वाग्योग भास के नाटकों में मिलते हैं।

यहाँ, इस बात का उल्लेख कर देना भी उचित होगा कि मृत्यु-विषयक जिस वाग्योग का प्रयोग, हम अपनी भाषा में आज भी, प्रायः करते हैं, वही वाग्योग भास की भाषा में भी अनेकत्र प्रयुक्त हुआ दिखलाई पड़ता है। अर्थात् हिन्दी में, मृत्यु के लिए जिस 'स्वर्गवास होना' वाग्योग का प्रयोग शिष्ट लोगों में देखा जाता है, भास ने भी, अपने नाटकों में लगभग १०–१२ स्थलों पर, ठीक इसी वाग्योग का प्रयोग किया है। यथा:—

हन्त, **स्वर्गं गतो** बाली।	अभिषे०	(स्वर्ग जाना)
तत्सुतः **स्वर्गं गतः**।	अविमा० १६५	(”)
गतः कर्णः **स्वर्गम्**।	उरुभ० ५४	(”)
(**स्वर्गं गतः**)।	उरुभ० ५७	(”)
स्वर्गं गते नरपतौ।	प्रतिमा० १००	(”)
स्वर्गं गतेन महाराजपादमूलेन शापितः स्याः, यदि सत्यं न ब्रूयाः।	प्रतिमा० १५८	(”)
स्वर्गमभिगतोऽसि (त्वम्)।	दूतघ० ३२	(”)
किमभिलषसि वीर, **स्वर्गमभिगन्तुम्**।	अभिषे० २०	(”)
अहं पश्चात् प्रवेक्ष्यामि **स्वर्गं याते** नराधिपते।	प्रतिमा० ११२	(”)
अवनिपतयः **स्वर्गं प्राप्ताः**।	उरुभ० ७	(”)
स्वर्ग्योऽयमस्तु।	प्रतिमा० १५१	(”)

उपरिलिखित अधिकांश वाग्योगों में 'स्वर्ग' के साथ 'गम्' धातु का ही प्रयोग हुआ है। एक वाग्योग में गत्यर्थक 'या' धातु का और एक में 'प्र+आप्' का प्रयोग भी हुआ है। किन्तु, इससे वाग्योग के तात्पर्य में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया है। छन्द आदि के कारण ही, कवि को इतना-सा परिवर्तन शब्दों में करना पड़ा है।

मृत्यु-विषयक ही कुछ अन्य वाग्योग इस प्रकार हैं:—

एते ते **शक्रलोके**···**यान्ति** सुकृतैः।	प्रतिमा० ७८	(स्वर्ग जाना)
तं चिन्तयामि नृपतिं **सुरलोकयातम्**।	प्रतिमा ११८	(”)

येनैव मानेन समं प्रसूतः
तेनैव मानेन **दिवं प्रयाति** । उरुभ० ४३ (")

उपरि उद्धृत तीनों वाग्योगों का तात्पर्य तो वही है—स्वर्ग जाना; किन्तु 'स्वर्ग के स्थान पर अन्य पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग इनमें किया गया है । एक स्थान पर 'स्वर्ग भेजना' वाग्योग का भी प्रयोग, भास ने किया है । यथाः—

त्वामेव त्रिदशाधिवासमधुना
सम्प्रेषयामि क्षणात् । बालच० ७७ (स्वर्ग भेजना)

मृत्यु से सम्बन्धित कुछ वाग्योग ऐसे भी हैं, जिनमें मरने वाले के प्रति अच्छी भावना न होने के कारण, उसका 'यमलोक में जाना' कहा गया है । किन्तु, मृत्यु-विषयक वाग्योगों में तो उनका परिगणन भी होगा ही । ऐसे कुछ प्रयोग ये हैंः—

त्वामद्य मुष्टिक ! **यमाय निवेदयामि** । बालच० ९४. (जान से मारना)
कसासुर च **यमलोकमहं नयमि** । बालच० ९५ (")
उत्तिष्ठतु पुमान् कश्चित्
गन्तुमिच्छेद् यमालयम् । दूतघ० ४० (")
यमसदनं प्रतियापयाम्यहं त्वाम् । अभिषे० ५८ (")
रुधिरैराद्रगात्रं त्वां **नयामि**
यमसादनम् । प्रतिमा० १४७ (")

कुछ अन्य भी, कम प्रचलित वाग्योग हैं, जिनके द्वारा 'मरने' या 'मारने' अर्थात् मृत्यु की व्यंजना की गयी है । यथाः—

व्यक्तं **देवगतिं गतेन** गुरुणा
(दशरथेन) । अभिषे० १२४ (मर जाना)
काललोकं विविक्षुः । अभिषे० १३ (मरना चाहता)
गतं धाव्युत्सङ्गे सकलमभिषिक्तं
नृपकुलम् । अभिषे० (मर जाना)
त्वां **निधनमुपनेतुम्** । बालच० ६४ (मारना)
अद्य प्रभृति न भविष्यसि (त्वम्) । बालच० ६१ (मर जाना)
ए ए राम ! अद्य...**जीवित-**
मुज्झसि । बालच० ६४ (मरना)
परित्यजन्तीव मां **प्राणाः** । अभिषे० २२ (")
त्यक्तोऽहमपि **जीवितैः** । प्रतिमा० ६४ (")
कस्य **जीवितमप्रियम्** । दूतघ० ७ (जीवन प्यारा न होना)
तत्रभवतः **परत्र सहायो**
भवामि । अविमा० ११३ परलोक में साथी होना)

संक्षेप में, महाकवि भास के नाटकों में लगभग ३० वाग्योगों के द्वारा मृत्यु की अभिव्यक्ति की गयी है। कुछ में 'स्वर्ग जाना' कहा गया है तो कुछ में 'यमलोक जाना'। 'दैवगति को जाने,' 'पृथ्वी में समाने' अथवा 'यमलोक में प्रवेश करने' के द्वारा भी मृत्यु की व्यंजना की गयी है। इसी प्रकार कहीं पर' प्राणों को छोड़ने' या 'प्राणों द्वारा छोड़े जाने' से भी मृत्यु को अभिव्यक्त किया गया है।

इस प्रकार भास ने, मृत्यु-विषयक अनेक वाग्योगों का प्रयोग किया है।

—:०:—

जीवन्मरणम्

साहित्य में जीवन का चित्रण होता है। उसमें कहीं हृदय-तत्त्व प्रधान हो जाता है तो कहीं बुद्धि-तत्त्व ! हृदयतत्त्व की प्रधानता वाले साहित्य के अंश को हम भावों के अन्तर्गत रखते हैं और बुद्धितत्त्व की प्रधानता वाले साहित्य के अंश को हम विचारों के अन्तर्गत परिगणित करते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कहीं हृदयतत्त्व और बुद्धितत्त्व-दोनों इस प्रकार सम्मिश्रित रहते हैं, कि साहित्य के उस अंश को न तो हम पूर्णतया भाव ही कह सकते हैं और न विचार ही। ऐसी दशा का वर्णन करना भी कवि के लिए कुछ कठिन हो जाता है। हाँ, यदि कुछ उपयुक्त वाग्योग उपलब्ध हों, तो कवि का काम सरल हो जाता है, उसकी अभिव्यक्ति में संप्रेषणीयता की मात्रा बढ़ जाती है। पाठक ऐसे वर्णनों को सरलता से समझ लेता है।

उदाहरण के लिए, जीवन में जब कोई ऐसी कठिन परिस्थिति आ जाती है कि व्यक्ति न तो जीवन का ही कोई सुख अनुभव करता है और न वह मर ही पाता है। जीवित रहते हुए भी वह व्यक्ति मृत हुए के समान जीवन व्यतीत करता है। एक ओर तो वह मृत्यु-सदृश कष्ट का अनुभव करता है, जो भाव है, दूसरी ओर, विचार करने पर वह स्वयं को मृत भी नहीं कह सकता, क्योंकि उसमें प्राण-संचार हो रहा है। ऐसी दशा के चित्रण के लिए कवि को बहुत ही उपयुक्त, एक निश्चित शब्दावलि चाहिए, जिसके द्वारा वह उस दशा का वर्णन ठीक-ठीक कर सके। हिन्दी में इस प्रकार की दशा का वर्णन करने के लिए जिन वाग्योगों का प्रयोग देखा जाता है, वे इस प्रकार हैं, जैसे :—

जीते जी मर जाना।
चलती-फिरती लाश होना।
मरे हुए के समान जीना। आदि-आदि।

इन वाग्योगों को देखने से प्रतीत होता है, जैसे ये सीधे, संस्कृत से ही हिन्दी में चले आये हैं।

भास के नाटकों में अनेक स्थलों पर ऐसे वाग्योग मिलते हैं। यथा :—

किमनेन **जीवन्मरणेन**।	अविमा० ९४	(जीते जी मरना)
सापि च तत्र **जीवन्मरणमनुभवति**।	अविमा० १०३	(")
किमेतेन **जीवन्मरणेन**।	अविमा० १२७	"
दारिद्रय' नाम **सोच्छ्वासं मरणम्**।	चारुद० १२	"
सुखात्तु यो याति दशां दरिद्रतां स्थित: शरीरेण **मृतः स जीवति**।	चारुद० १४	"

ईदृशो लोकधर्मः

संसार में रहकर, प्रत्येक प्राणी को सुख-दुःख का अनुभव होता है। जन्म और मृत्यु को टाला नहीं जा सकता है। जन्म से सुख और मृत्यु से दुःख का अनुभव सगे-सम्बन्धियों को होता ही है। सुख-दुःख की इस अनिवार्यता को संसार का धर्म ही माना जाता है। 'धारणाद् धर्मः' के अनुसार वस्तुतः, सुख और दुःख ही संसार को धारण करते हैं। इस रूप में इन्हें 'लोकधर्म' कहा गया है।

संसार में अनिवार्य रूप से होने वाली कुछ बातों के लिए, हिन्दी में 'दुनिया है', 'संसार का नियम है' आदि मुहावरों का प्रयोग होता है। संस्कृत में, भास ने इसकी अभिव्यक्ति के लिए 'लोकधर्मः' शब्द का प्रयोग किया है। भास-प्रयुक्त वाग्योग इस प्रकार हैं :—

अलमलं विषादेन **ईदृशो लोकधर्मः**।	अभिषे० २८	(संसार ऐसा ही है)
ईदृशो लोकधर्मः, त्यज्यताम्।	बालच० १९	" "

उपर्युक्त दोनों ही स्थल मृत्यु के प्रसंग में है। इस लिए वक्ता का तात्पर्य है कि संसार का यही नियम है कि यहाँ जन्म लेने वाला मृत्यु को प्राप्त होता है। यही दुनियाँ है। अतः, मृत व्यक्ति के प्रति मोह छोड़ देना चाहिए अर्थात् दुःखी नहीं होना चाहिए।

—: ० :—

सौन्दर्य एवं प्रेम विषयक वाग्योग

साहित्य में नारी-सौन्दर्य का वर्णन प्रायः होता ही है। यह सौन्दर्य दो प्रकार का हो सकता है—एक वस्त्रों, शृंगार-प्रसाधनों एवं आभूषणों से होने वाला और दूसरा जन्मजात। प्रथम प्रकार के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए भास के नाटकों से दो उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं :—

विभाति **निर्व्याजमनोहराङ्गी**। अविमा० १२४ (बिनाबनावट सुन्दर होना)

जित इदानीं तत्रभवत्या
स्वभावरमणीयेन रूपेण। अविमा० १२४ (स्वभाव से सुन्दर होना)

उपर्युक्त उदाहरणों में 'निर्व्याजमनोहराङ्गी' और 'स्वभावरमणीयेन रूपेण'—ये दोनों ही प्रयोग वाग्योगात्मक हैं। क्योकि, इन दोनों ही स्थलों पर उक्ति का जो तात्पर्य है, वह प्रयुक्त पदों के वाच्यार्थ से कहीं अधिक व्यंजक है। वस्तुतः, इस अतिरिक्त अर्थ की अभिव्यक्ति में ही वाग्योगों की सार्थकता होती है।

'प्रेम जगाना' वाग्योग का प्रयोग हिन्दी में बहुत होता है। इसी प्रकार की अभिव्यक्ति भास में भी मिलती है। यथा :—

चिरकालप्रसुप्तं **प्रणयमुद्बोधयति**। अविमा० १५४ (प्रेम जगाना)

वस्तुतः, सोना और जागना क्रियाओं का प्रयोग जीवधारियों के साथ किया जाता है, किन्तु यहाँ 'प्रणय' के साथ उद्बोधन क्रिया का प्रयोग हुआ है, जो वाग्योगात्मक है।

इसी वाक्य में '**प्रसुप्तं प्रणयम्**'—यह दूसरा वाग्योग भी प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि, जिस प्रकार 'प्रेम जगाना' वाग्योग है, उसी प्रकार 'सोया हुआ प्रेम होना' भी वाग्योग ही है।

एक अन्य स्थल पर 'प्रणय' शब्द के स्थान पर 'काम' शब्द का प्रयोग भी हुआ है। देखिए :—

चिरप्रसुप्तः कामो मे
वीणया **प्रतिबोधितः**। स्वप्न० १४०

यहाँ भी '**कामः प्रतिबोधितः**' (काम को जगाना) और '**प्रसुप्तः कामः**' (सोया हुआ काम होना) का प्रयोग ठीक उसी रूप में हुआ है जिस रूप में पूर्वोक्त प्रणय-सम्बन्धी वाग्योगों का हुआ है।

'काम का अंगड़ाई लेना'—जैसी अभिव्यक्तियाँ हिन्दी में खूब मिलती हैं। भास ने भी एक स्थल पर ऐसी ही अभिव्यक्ति की है। यथा :—

संकल्प्यमानो हि **विजृम्भते मदनः**। अविमा० ३३

स्पष्टतया, यहाँ **'विजृम्भते मदनः'** यह प्रयोग वाग्योगात्मक ही है।

प्रणय-प्रसंग में 'हाँ' को 'ना' कहना नारियों की स्वभावगत विशेषता मानी जाती है। भास ने भी इस विशेषता की अभिव्यक्ति वाग्योग के द्वारा की है :—

वाष्पोपरुद्धजडगद्‌गद्‌जिह्मकण्ठं
काऽहं तवेत्यसकलं प्रणयाद्‌वदन्ती।
सद्‌भावतः प्रियवशं समुपागताऽपि
स्त्रीभावतः **प्रवदति प्रतिकूलमेव**॥ अविमा० ६०

यहाँ ध्यान देने योग्य बात केवल यही है कि 'प्रवदति प्रतिकूलमेव' वाग्योग, केवल प्रणय-प्रसंग में ही नारी-स्वभाव की अभिव्यक्ति करता है। अन्यत्र इसकी वाग्योगात्मकता कुण्ठित होकर व्यर्थ हो जाती है।

इसी प्रसंग में 'बहाना चाहना' वाग्योग का भी भास ने अच्छा प्रयोग किया है। देखिए :—

प्रसन्ना खल्वियं **व्यपदेशमिच्छति**। अविमा० ६९

अर्थात् रूठने का-सा अभिनय करने वाली यह नायिका, वस्तुतः तो प्रसन्न ही है, किन्तु (प्रिय के समीप आने के लिए) बस, कोई बहाना चाह रही है।

किसी व्यक्ति के लिए 'नया होना' वाग्योग का प्रयोग हिन्दी में ऐसे व्यक्ति के लिए होता है जो प्रथम बार ही किसी व्यक्ति से मिल रहा होता है। भास ने, संस्कृत में भी, इस वाग्योग को इसी रूप में प्रयुक्त किया है :—

'न त्वं प्रिये मम नवासि। अविमा० ८२

'अविमारकम्' नाटक में, नायक की यह उक्ति नायिका कुरङ्गी के प्रति है। अर्थात् 'तुम मेरे लिए नयी नहीं हो'।

प्रायः वस्तुओं को ही नया या पुराना कहा जाता है। वहाँ 'नव' शब्द अपने 'वाच्यार्थ' को ही कहता है। किन्तु, जब व्यक्ति-परिचय के प्रसंग में 'नव' शब्द का प्रयोग होता है, तब वहाँ, यह अपने लाक्षणिक अर्थ को ही प्रकट करता है और तब यह वाग्योग के रूप में ही होता है।

अपने निकट व्यक्ति, पति या प्रेमी से जब हमें अपनेपन की अनुभूति नहीं होती अथवा जब कोई अपना होकर भी परायों-जैसा व्यवहार करता है, तब उसकी अभिव्यक्ति के लिए, भास ने **'परकीयः संवृत्तः'** वाग्योग का प्रयोग किया है। यथा :—

आर्यपुत्रोऽपि नाम **परकीयः संवृत्तः**। स्वप्न० ६८ (पराया होना)

यहाँ तक कि कभी-कभी तो अपना शरीर अथवा अपने हाथ-पैर आदि अंग भी पराये-से हो जाते हैं । यथा :—

परकीयमिवात्मनः शरीरं धारयति । चारुद० ६२
परकीयाविव ते हस्तौ संवृत्तौ । स्वप्न० ५३

उपहता बुद्धिः

'मत मारी जाना' हिन्दी का बहुप्रचलित वाग्योग है । हमारे इतिहास का एक काल ऐसा भी था, जिसमें सम्पूर्ण नारी जाति के लिए, इस वाग्योग का प्रयोग होता था । अर्थात् प्रत्येक नारी की चरित्रगत विशेषता के रूप में ही इस वाग्योग का प्रयोग किया जाता था । सम्भवतया भास का काव्यकाल भी कोई ऐसा ही युग था, जिसमें स्त्री-समाज के प्रति पुरुषों की धारणा अच्छी नहीं थी । भास के 'प्रतिमानाटकम्' से एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है :—

कुमार ! **अलमुपहतासु स्त्रीबुद्धिषु**
स्वमार्जवमुपनिक्षेप्तुम् । प्रतिमा० ३१

स्पष्ट ही, भास ने 'उपहतासु स्त्रीबुद्धिषु' वाग्योग का प्रयोग यहाँ नारी-जाति की सामान्य विशेषता को अभिव्यक्त करने के लिए किया है ।

—:०:—

भाग्यविषयक वाग्योग

'भाग्य होना' हिन्दी का बहुत ही प्रचलित वाग्योग है । किसी भी क्षेत्र में सफल होने पर या किसी भी अच्छी वस्तु के उपलब्ध होने पर, सफल व्यक्ति विनम्रतावश और ईश्वर में विश्वास होने के कारण प्रायः कह दिया करता है—यह मेरा 'भाग्य था' या 'मेरा भाग्य अच्छा था' । इसके विपरीत असफल व्यक्ति 'भाग्य नहीं था' मुहावरे का ही प्रयोग किया करता है । सफलता की आशा होने पर जब असफलता प्राप्त हो जाती है, तब भी प्रायः यही कह दिया जाता है कि 'भाग्य के बदल जाने' से ही सफलता, असफलता मे बदल गयी ।

संस्कृत में भी, इन अर्थों को अभिव्यक्त करने वाले अनेक वाग्योग मिलते हैं । यहाँ, केवल भास के नाटकों में उपलब्ध ऐसे वाग्योगों का विवेचन किया जा रहा है । देखिए :—

महान् खलु भारः प्रद्योतस्य
भाग्यैर्निस्तीर्णः । प्रतिज्ञा० १३ (भाग्य से होना)

भाग्यैश्चलैर्महदवाप्तगुणोपघातः ।	स्वप्न० १४५	भाग्य से होना
कथमकुशलिनी भवति **विद्यमानेषु स्वामिभाग्येषु ।**	अविमा० १०	भाग्य होना
भाग्यावशेषमवलम्ब्य ।	अविमा० ९०	भाग्यशेष होना
सावशेषाणि मे भाग्यानि ।	अविमा० ४२	,,
भाग्यक्षयान्निष्फलमुद्यतानि ।	प्रतिज्ञा० ३०	भाग्य क्षीण होना
पितृणां **भाग्यदोषेण** प्राप्नुयादपि धर्षणम् ।	पञ्चरा० ८१	भाग्य का बुरा होना
अस्माकं **भाग्यक्रमेण**...।	दूतघ० ६	भाग्य के अनुसार होना
भाग्यक्रमेण हि धनानि पुनर्भवन्ति ।	चारुद० १५	,,
भाग्येषु शेषमायत्तम् ।	प्रतिज्ञा० ५०	भाग्य के अधीन होना
भागधेयपरिवृत्ततया दशया संवाहक-वृत्तिमुपजीवामि ।	चारुद० ६०	भाग्य का विपरीत होना
साधु, **भागधेयपरिवृत्ततायां** दशायां मानावमानं रक्षितम् ।	चारुद० ११९	,,
यत्र **गतानि मे भाग्यानि ।**	चारुद० १४	भाग्य चला जाना

उपरिलिखित उद्धरणों को देखने से ज्ञात होता है कि भास ने भाग्य से सम्बन्धित अनेक वाग्योगों का प्रयोग किया है ।

यद्यपि ऊपर 'भाग्य होना, भाग्य शेष होना, भाग्य क्षीण होना आदि वाक्यांशों को ही हमने वाग्योग के रूप में प्रदर्शित किया है । तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर 'भाग्य' शब्द स्वयं ही एक ऐसा बहुप्रयुक्त, और रूढ़ वाग्योग है, जिसका प्रयोग व्यक्ति की एक विशेष दशा को अभिव्यक्त करने के लिए किया जाता है । वास्तव में, वाग्योग में ही ऐसी शक्ति होती है ।

संस्कृत में भाग्य, दैव और विधि—इन तीनों शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में होता है । अतः, भाग्य के स्थान पर 'दैव' शब्द के प्रयोग से भी संस्कृत के अनेक वाग्योग बने हैं । भास ने भी ऐसे कुछ वाग्योगों का प्रयोग अपने नाटकों में किया है । उदाहरणार्थ :—

दैवमत्र कन्याप्रदानेऽ**धिकृतम्** ।	प्रतिज्ञा० ४४	दैव के अधीन होना

यह वाग्योग ठीक ऐसा ही है, जैसा भाग्य शब्द के प्रयोग से बना यह वाग्योग है :—

भाग्येषु शेषमायत्तम् ।	प्रतिज्ञा० ५०

किन्तु, कहीं-कहीं इन दोनों शब्दों के प्रयोग में अन्तर अनुभव होता है। उदाहरण के लिए 'भाग्य' शब्द कुछ ऐसे अर्थ को कहता है, जो मनुष्य के प्रयासों से होने वाले पुण्यफल के रूप में दिखलायी पड़ता है। 'दैव' शब्द का अर्थ कुछ-कुछ 'ईश्वर की कृपा'—जैसा प्रतीत होता है। जिस पर मनुष्य का वश बिल्कुल भी नहीं है। 'भाग्य' को व्यक्ति बना सकता है, किन्तु 'दैव' को नहीं। फिर भी अर्थ की अत्यधिक समीपता के कारण ही हमने 'दैव' से सम्बन्धित वाग्योगों का विवेचन यहाँ उचित समझा है।

भास द्वारा प्रयुक्त कुछ अन्य वाग्योग इस प्रकार हैं :—

न चेद् **विसंवादमुपैति दैवम्**।	अविमा० ४५	दैव का विपरीत होना
ध्रुवमहो **दैवस्य विघ्नक्रिया**।	अभिषे० ३२	दैव द्वारा विघ्न डालना
दैवं विधानमनुगच्छति कार्यसिद्धिः।	अविमा० ७४	दैव का विधान होना
वहामि सिद्धिं यदि **दैवतं स्थितम्**।	बालच० १३	दैव का होना

संस्कृत में 'विधिः' शब्द का प्रयोग भी वाग्योगात्मक रूप में होता है। और वह भी 'दैव' से समानता रखता है। भास-प्रयुक्त दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है :—

	विधिरनतिक्रमणीयः।	प्रतिमा० ५६	(विधि का न लांघा जाना अर्थात् विधि पर वश न चलना)
तथा	**अनतिक्रमणीयो हि विधिः**।	स्वप्न० १००	

स्पष्ट ही, इन दोनों ही प्रयोगों में अर्थ की दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं है। और यह पूरा वाक्य ही, हमें वाग्योग अनुभव होता है।

—:०:—

भौतिक पदार्थों से सम्बन्धित वाग्योग

दिन और रात तथा प्रकाश और अन्धकार भौतिक तत्त्व हैं। जीवन और जगत् से इनका सम्बन्ध शाश्वत है। इसी प्रकार साहित्य से भी। किसी भी कवि की रचना में, इनकी अभिव्यक्ति अनेकत्र मिल ही जाती है। भास के नाटकों में भी अनेक स्थलों पर अन्धकार का वर्णन मिलता है। हमने केवल उन्हीं स्थलों का चयन, यहाँ पर किया है, जहाँ अन्धकार की अभिव्यक्ति वाग्योगों के माध्यम से हुई है। यथा :—

अहो, बलवानन्धकारः।	बालच० १५	बहुत ही अन्धकार है

यहाँ अन्धकार को बलवान् बतलाना, कवि का वाग्योगात्मक प्रयोग ही है। सामान्यतया किसी व्यक्ति को ही बलवान् या बलहीन कहा जाता है, किन्तु यहाँ कवि भास ने, अपने 'बालचरितम्' नाटक में अन्धकार को बलवान् कहा है, क्योंकि मृत पुत्री को, बिना किसी के जाने घर से दूर हटा देने के समय, उसे जिस अन्धकार का सामना करना पड़ रहा है, वह वैसा ही है, जैसा कि कोई बलवान् प्रतिद्वन्द्वी होता है और जो इष्ट कार्य में बाधक हो रहा होता है।

अन्धकार की अधिकता की अभिव्यक्ति के लिए भास ने जिन अन्य वाग्योगों का प्रयोग किया है, वे इस प्रकार है :—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि।	बालच० १३	अन्धकार से लीपना
लिम्पती तमोऽङ्गानि।	चारुद० ३०	,, ,,
वर्षतीवाञ्जनं नभः।	बालच० १२	काजल का बरसना
पूर्वा तु काष्ठा तिमिरानुलिप्ता।	अविमा० ५३	अन्धकार से लिप जाना।
अवतरतीव प्रासादादन्धकारः।	चारुद० ७७	अन्धकार का उतरना
तमसि दश दिशो निमग्नरूपाः।	अविमा० ६७	अन्धकार में डूबना

अन्धकार पूर्ण रात्रि की भयानकता को, कवि भास ने अपने 'अविमारकम्' नाटक में इस प्रकार व्यक्त किया है :—

अद्यैव खलु वर्तते कालरात्रिः।	अविमा० ६७	काली रात होना

अन्धेरी रात को 'कालरात्रिः' कहना, निश्चय ही सामान्य प्रयोग नहीं है, क्योंकि इसी जिस भयानकता की अभिव्यक्ति कवि करना चाहता है, वह 'कालरात्रिः' के वाग्योगात्मक प्रयोग से ही सम्भव है।

अन्धेरे के कारण संसार की और संसार के पदार्थों की क्या दशा हो जाती है, उसके लिए भी कवि भास की अभिव्यक्ति वाग्योगात्मक है।

अन्धेरे के कारण, ऐसा लगता है मानों मनुष्य-लोक अपना **वेष बदल रहा** है :—

वेषान्तरं रचयतीव मनुष्यलोकः। अविमा० ५४

और, महलों में हलचल कम हो जाने से, महल जैसे, योगीजन के समान ध्यान की स्थिति में पहुँच गये हैं। इसके साथ ही सम्पूर्ण उज्जयिनी नगरी भी, लोगों के आवागमन के न रहने से मानों सो गयी है :—

निस्सम्पातपुरुषत्वात् **प्रसुप्तेवोज्जयिनी** प्रतिभाति। चारुद० ७६

वृक्ष आदि पदार्थ, **अन्धकार मे निगले गये**-से हो जाने के कारण, केवल स्पर्श से ही अनुमानित हो रहे हैं :—

प्रग्रस्ता इव सञ्चितेन **तमसा** स्पर्शानुमेया नगाः। अविमा० ३६

अन्धकार के कारण जगत् मानों अन्तर्धान हो रहा है :—

अन्तर्धानमिवोपयति सकलं प्रच्छन्नरूपं **जगत्**। अविमा० ६६

और अन्धकार के इस समग्र प्रभाव का उपसंहार करते हुए, भास कहते हैं :—

अहो **विचित्रस्वभावता जगतः।** अविमा० ५३

अर्थात् अन्धकार के कारण जगत् के स्वभाव में ही विचित्रता आ गयी है।

जिगमिषति नभः

ऊँचे भवनों आदि की ऊँचाई को व्यक्त करने के लिए 'आकाश को छूना' 'गगनचुम्बी होना' आदि वाग्योगों का प्रयोग भाषा में होता है। भास ने भी एक स्थल पर इस वाग्योग को अपनाया है। देखिए :—

नृपभवनमिदं···जिगमिषतीव नभो वसुन्धरायाः। अविमा० ७५

'अविमारकम्' नाटक में यह उक्ति राजा कुन्तिभोज के प्रासाद की ऊँचाई के विषय में है। अर्थात् पृथ्वी पर विद्यमान यह भवन इतना ऊँचा है कि लगता है जैसे आकाश में पहुँच जाना चाहता है।

उत्प्रहसितः स्वर्गः

भवन की सम्पन्नता और सुन्दरता को प्रकट करने के लिए भी एक बहुत ही सुन्दर वाग्योग का प्रयोग भास ने किया है। देखिए :—

उत्प्रहसित इव भवनेनानेन **स्वर्गः**। अविमा० ७७

नाटक का नायक कहता है कि इस भवन की समृद्धि को देखकर ऐसा लगता है, जैसे यह भवन स्वर्ग की हँसी उड़ा रहा है।

भवन-सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों ही वाग्योग भाषा में प्रायः प्रयुक्त होते रहते हैं तथा संस्कृत में भी इनका प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है।

प्रच्छन्नरत्नता

किसी श्रेष्ठ, वीर या महान् व्यक्ति के प्रकट होने पर प्रायः इस वाग्योग का प्रयोग किया जाता है। भास ने भी ऐसी ही परिस्थिति में इसका प्रयोग किया है। देखिए :—

अहो **प्रच्छन्नरत्नता** पृथिव्याः। अविमा० १४

'अविमारकम्' नाटक में नायक अविमारक की असाधारण वीरता को देखकर, उसके लिए की गयी यह, भूतिक (एक अन्य पात्र) की उक्ति है। एक **मनुष्य को रत्न कहा जाना** ही, यहाँ वाग्योगात्मकता है। उस पर भी **छुपा रत्न होना** और भी अधिक प्रभावोत्पादक वाग्योग बन जाता है।

हिन्दी में ऐसे स्थलों पर **'गुदड़ी का लाल होना'** वाग्योग का प्रयोग प्रायः देखा जाता है।

वस्तुत, संस्कृत में **'रत्न'** शब्द का श्रेष्ठ अर्थ में प्रयोग **नितान्त** वाग्योगात्मक ही है। इसी रूप में 'नररत्न' नारीरत्न और 'अश्वरत्न' आदि शब्दों का प्रयोग संस्कृत में देखा जाता है।

कालसूचक वाग्योग

प्रत्येक भाषा की अपनी विशिष्ट प्रकृति होती है। उसी के अनुरूप उसके वाग्योग भी होते हैं।

समय ज्ञात करने के लिए, जैसे हिन्दी में 'क्या समय है ?' क्या बजा है'— वाक्यों का प्रयोग होता है, वैसे ही संस्कृत में **'का वेला ?'** वाक्य का प्रयोग देखा जाता है।

'का वेला ?' वाक्य के उत्तर में भास ने समय की सूचना देने वाले जिन वाग्योगों का प्रयोग किया है, वे इस प्रकार हैं :—

प्रभाता रजनी।	बालच० १७	(दिन निकलना) या (सवेरा होना)
प्रभाता रजनी।	बालच० १७	(दिन चढ़ना)
मध्याह्नमारोहति दिवाकरः।	प्रतिज्ञा० ६९	(दोपहर होना)
अतिक्रान्तो दिवसः।	अविमा० ५३	(दिन ढलना)
आरूढः प्रदोषः।	अविमा० ५३	(झुटपुटा होना)
आरूढः प्रदोषः।	अविमा० ६४	(झुटपुटा होना)
अवगाढः प्रदोषः।	अविमा० ५६	(सांझ गाढ़ी होना)

गतप्रायः प्रदोषः ।	अविमा० ६४	(सांझ ढलना)
आरूढा ज्योत्स्ना ।	अविमा० ६४	(चाँदनी चढ़ना)
		या (चान्दन होना)

समय की सूचना देने के लिए, उपर्युक्त वाग्योगों के प्रयोग से अभिव्यक्ति में बड़ी सरलता आ जाती है ।

हिन्दी में 'दिन चढ़ना' वाग्योग का प्रयोग, बोलचाल की ग्रामीण बोलियों में प्रायः होता है । संस्कृत में 'आरूढो दिवसः' वाग्योग का अनूदित रूप में 'दिन चढ़ गया है' जैसा प्रयोग हिन्दी बोलचाल में होता है ।

इससे यह संकेत भी मिलता है कि हिन्दी के अनेक वाग्योग ऐसे हैं, जो संस्कृत के वाग्योगों का ही अनुवाद हैं ।

—:o:—

पञ्चम अध्याय

औपचारिक संवाद, निन्दनीय व्यवहार, प्रतारणापरक, उपमानात्मक, चव्यन्त, कथात्मक एवं क्रियात्मक वाग्योग

औपचारिक संवाद,

प्रायः सभी भाषाओं में, कम या अधिक संख्या में औपचारिक वाग्योग दृष्टिगोचर होते हैं। हिन्दी में 'आप कुशल से हैं?' 'आप कुशलपूर्वक हैं' अथवा 'कुशल तो है?' आदि-आदि अनेक औपचारिक वाक्यों का प्रयोग होता है। मिलने पर, परस्पर, हाल-चाल पूछने के लिए इन वाक्यों का प्रयोग प्रायः होता है। बार-बार प्रयुक्त होने पर ऐसे वाक्य भी वाग्योग की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। बाद में, तो उनकी लाक्षणिकता अथवा व्यंजकता पर ध्यान दिये बिना ही उनका प्रयोग होता रहता है।

सुखमार्यस्य

जब हम भास के नाटकों में ऐसे औपचारिक वाग्योग खोजते हैं तो हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि भास के १३ नाटकों में से किसी एक नाटक में भी, किसी एक स्थल पर भी 'अपि कुशली भवान्?' अथवा 'अपि कुशलिनी भवती'—जैसे किसी एक वाग्योग का भी प्रयोग नहीं हुआ है। हाँ, इस वाग्योग के स्थान पर भास ने 'सुखमार्यस्य?' या 'सुखमार्यायाः?' वाग्योग का ही प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। यथा :—

'सुखमार्यस्य?'	बालच० २४	(आर्य सुखी तो हैं?)
अपि सुखमार्यस्य?	बालच० ८९	,,
सुखमार्यस्य?	अविमा० ३९	,,
सुखमार्यस्य?	अविमा० ३६	,,
सुखमार्यस्य?	अविमा० ४१	,,
सुखमार्यायाः?	चारुद० १०४	,,
सुखमार्यायाः?	चारुद० ११६	,,

ऊपर के सभी स्थलों पर कुशल-समाचार जानने के लिए ही उक्त वाग्योग का प्रयोग हुआ है।

ज्ञात होता है कि भास के समय तक 'कुशली भवान्?—जैसे किसी वाग्योग का प्रचलन नहीं था। साथ ही, 'भवान्' शब्द के स्थान पर भी तब तक इस वाग्योग में 'आर्य' शब्द का ही प्रयोग होता था। ऊपर के सभी उदाहरणों से इसी बात की पुष्टि होती है।

ध्यान देने योग्य, एक अन्य बात यह भी है कि भास की रचनाओं में 'सुखमार्यस्य'—जैसे वाक्यों में, षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है, जबकि 'कुशली भवान्'—जैसे, बाद के प्रयोगों में विशेषण और विशेष्य का प्रयोग मिलता है।

गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय

जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते हैं, जब हम भावुक हुए बिना नहीं रह सकते। विशेष रूप से अपने प्रियजनों से मिलते अथवा बिछुड़ते समय हम अनिवार्य रूप से भावुक हो जाते हैं। किसी प्रियजन के विदा होते समय हम उसे दूर तक छोड़ने जाते हैं और विदा होने के क्षण तक भी यही चाहते हैं कि अच्छा हो यदि हमारा प्रियजन हमसे दूर न जाये। किन्तु, जीवन के यथार्थ में यह भावुकता, बहुत दूर तक हमारा साथ नहीं देती। अन्त में, कर्तव्यबुद्धि और विवेक से काम लेना पड़ता है। न चाहते हुए भी हम अपने प्रिय व्यक्ति को विदा कर ही देते हैं।

उपर्युक्त मानसिक पृष्ठभूमि की अभिव्यक्ति के लिए, संस्कृत में एक बहुत ही उपयुक्त वाग्योग का प्रयोग मिलता है। यथा :—

गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय।

तात्पर्य है कि आप जाइये अवश्य, किन्तु अवसर मिलते ही पुनः हमसे मिलिए।

इस वाग्योग की व्यंजना को एक अन्य पृष्ठभूमि में भी समझा जा सकता है। केवल 'गच्छतु भवान्' कहने में, रूक्षता अनुभव करने के साथ ही साथ अनिष्ट की आशंका भी की जा सकती है। अर्थात् 'जाओ' कहने का अर्थ 'सदैव के लिए चले जाओ' अथवा 'संसार से ही चले जाओ' भी समझा जा सकता है। इसलिए वाग्योग में 'गच्छतु भवान्' के साथ 'पुनर्दर्शनाय' को रखना बहुत ही युक्तियुक्त है। व्यंजना की मात्रा इससे कई गुणा बढ़ जाती है।

भास ने भी, उपर्युक्त वाग्योग का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है। यथा :—

गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय।	दूतवा० ४७
गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय।	मध्यम० ४६
गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय।	बालच० १०३
गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय।	अविमा० ११०
गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय।	स्वप्न० ४८
गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय।	चारुद० ६७

उपर्युक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि यह उस काल का बहुप्रयुक्त वाग्योग है। रचना की दृष्टि से हम इसे 'वाक्यात्मक वाग्योग' कह सकते हैं।

दिष्टचा भवान् वर्धते

इस वाग्योग का प्रयोग उस परिस्थिति में होता है, जब हम किसी व्यक्ति की सफलता पर उसे बधाई देते हैं। 'वर्धते' से तात्पर्य, यहाँ युद्ध आदि में विजयी होकर यश आदि के बढ़ने से है।

इस वाग्योग का प्रयोग अपने नाटकों में भास ने अधोलिखित स्थलों पर किया है :—

दिष्टचा भवान् वर्धते।	पञ्चरा० १९
दिष्टचा भवान् वर्धते।	पञ्चरा० ७९
दिष्टचा भवान् वर्धते।	अविमा० १५४
दिष्टचा भवान् वर्धते।	प्रतिमा० १८२
दिष्टचा भवान् वर्धते।	प्रतिमा० १८३

इसके साथ ही एक स्थान पर **'दिष्टचा भवान् दृश्यते'** वाग्योग का प्रयोग भी मिलता है। तात्पर्य है, आप दिखलायी पड़े, इसके लिए बधाई स्वीकार करे।

पूरे वाक्य से, यदि **दिष्टचा** शब्द को निकालकर देखे तो यह अकेला शब्द भी वाग्योग के रूप में प्रयुक्त हुआ दिखलायी पड़ता है। कारण, इसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ पर, सम्भवतया उतना हमारा ध्यान नहीं जाता है, जितना की अभ्यासवश किये गये इसके प्रयोग पर जाता है। और, अभ्यासवश होने वाला किसी शब्द का अधिक प्रयोग भी वाग्योग, मुहावरा या Idiom ही माना जाता है।

शान्तं पापम्

मांगलिक प्रसन्नता के लिए, जिस प्रकार 'दिष्टचा भवान् वर्धते' वाग्योग का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार संस्कृत में अमंगल की आशंका को दूर करने के लिए भी एक निश्चित शब्दावलि, एक विशेष वाग्योग का प्रयोग किया जाता है। वह वाग्योग है :—

शान्तं शान्तं पापम्। (अमंगल का नाश हो)

या **शान्तं पापम्।**

शब्दों को देखें, तो 'पाप शान्त हो' शब्द से कुछ अभिप्राय प्रकट नहीं होता हैं। अभिप्राय तभी स्पष्ट होता है, जब किसी अमंगल की सम्भावना प्रकट होने पर इस वाग्योग के द्वारा हम उस अमंगल के नाश की कामना करते हैं।

भास ने इस वाग्योग का भी, अपने नाटकों में अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है। यथा :—

शान्तं शान्तं पापम्।	दूतघ० ३८	(अमंगल का नाश हो)
शान्तं शान्तं पापम्।	पञ्चरा० ९८	,, ,,
शान्तं शान्तं पापम्।	अविमा० १७	,, ,,

शान्तं शान्तं पापम् । प्रतिमा० १६४ " "
शान्तं शान्तं पापम् । चारुद० १२३ " "

आगे चलकर, संस्कृत में **'शान्तं शान्तं पापम्'** के स्थान पर केवल **'शान्तं पापम्'** वाग्योग का प्रयोग ही प्रायः हुआ है ।

बाढम् । प्रथमः कल्पः ।

बोचचाल में, उत्तर-प्रत्युत्तर या संवादों में भाषा का जो रूप प्रयुक्त होता है, वह सामान्य वर्णनात्मक भाषा से भिन्न होता है । सम्वादों में, बाद वाले कथन या प्रत्युत्तर में कहे गये वाक्य का अर्थ पहले कहे गये कथन पर निर्भर करता है । इसी प्रकार अनेक वाग्योग ऐसे हैं, जिनके अर्थ की सम्यक् प्रतीति हमें तभी होती है, जब हम उससे पूर्व के कथन को जान लेते हैं । संस्कृत में ऐसा एक वाग्योग है :—

बाढम् । प्रथमः कल्पः । (हाँ, अवश्य)

इस वाग्योग का प्रयोग पूर्व वक्ता के कथन की पुष्टि, अनुमोदन या अपनी स्वीकृति को व्यक्त करने के लिए किया जाता है ।

अर्थ की दृष्टि से विचार करें तो इस वाग्योग का अर्थ 'हाँ, पहली बात है' या 'अवश्य ! सर्वप्रथम करणीय कार्य है'—जैसा ही कुछ होता है । कहीं-कहीं 'उत्तम विचार है' जैसा अर्थ भी, भास के टीकाकारों ने किया है । किन्तु भाषा के प्रयोग और वाग्योग की दृष्टि से देखें तो निश्चय ही यह एक उत्तम वाग्योग है, जिसका प्रयोग कहीं भी, पूर्ववक्ता की हाँ में हाँ मिलाने के लिए किया जा सकता है ।

भास ने अनेक स्थलों पर इस वाग्योग का प्रयोग किया है ।

स्वकार्यमनुष्ठीयताम्

संस्कृत में एक ऐसा भी वाग्योग है जिसका प्रयोग केवल सामान्य आदेश देने के लिए ही किया जाता है । यथा :—

स्वकार्यमनुष्ठीयताम् ।

अर्थात् 'अपना काम कीजिए' । स्वामी के द्वारा सेवक के लिए इस वाग्योग का प्रयोग संस्कृत की अनेक रचनाओं में मिलता है ।

भास ने भी, अपनी रचनाओं में दो स्थलों पर इस वाग्योग का प्रयोग किया है । देखिए :—

स्वकार्यमनुष्ठीयताम् । दूतवा० २६
स्वकार्यमनुष्ठीयताम् । प्रतिज्ञा० १००

स्वनियोगमशून्यं कुरु

संस्कृत में अनेकत्र इस वाग्योग का प्रयोग भी मिलता है । तात्पर्य है कि 'अपना कर्तव्य कर्म कीजिए' अथवा 'अपनी ड्यूटी पर जाइये ।'

यह वाग्योग 'अशून्यं' शब्द के साथ 'कृ' धातु के सहप्रयोग से बनाया गया है। भास ने, अनेक स्थलों पर, पपृच्छा में इसका प्रयोग किया है। यथा :—

क इह भोः ! काञ्चनतोरणद्वारमशून्यं कुरुते । अभिषे० ४४ (यहाँ किसकी ड्यूटी है)

क इह भोः ! प्रवालतोरणद्वारमशून्यं कुरुते । अभिषे० ८७ ,,

क इह भोः ! काञ्चनतोरणद्वारमशून्यं कुरुते । प्रतिमा० १५१ ,,

क इह भोः ! काञ्चनतोरणद्वारमशून्यं कुरुते । स्वप्न० १३४ ,,

उपर्युक्त चारों वाक्यों में एक ही शब्दावलि का प्रयोग, भास ने बार-बार किया है। इस दृष्टि से 'अशून्यं + कृ' के साथ ही, उपर्युक्त पूरे वाक्य को भी वाग्योग के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि यहाँ सभी उदाहरणों में एक विशिष्ट अर्थ के लिए एक विशिष्ट शब्दावलि का प्रयोग भास ने किया है।

हास्यमभिधानम्

अर्थात् 'हंसी की बात होना'। भास ने इस वाग्योग का प्रयोग निम्न स्थलों पर किया है :—

अहो ! हास्यमभिधानम् । पञ्चरा० ११८

अहो ! हास्यमभिधानम् । प्रतिज्ञा० ११८

अहो ! हास्यमभिधानम् । प्रतिज्ञा० १२७

अहो ! शत्रुजनापहास्यमभिधानम् । प्रतिज्ञा० ९६

अन्तिम उदाहरण में 'हास्यम्' के स्थान पर 'अपहास्यम्' शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु, 'हास्यम्' का प्रयोग अनेक स्थलों पर होने से मूल वाग्योग 'हास्यमभिधानम्' ही है। कभी-कभी थोड़ा-बहुत रूपान्तर वाग्योगों में, कवियों के द्वारा कर लिया जाता है—निरंकुशा हि कवयः।

—:०:—

निन्दनीय व्यवहार-विषयक वाग्योग

हिन्दी का एक बहुप्रयुक्त वाग्योग है—'विश्वासघात करना'। यद्यपि आज कल इसका प्रयोग रूढ़ि के रूप में होता है और बार-बार प्रयोग में आने पर भी इसकी विलक्षणता पर किसी का ध्यान नहीं जाता, तथापि अपने प्रादुर्भाव के समय यह प्रयोग विलक्षण ही रहा होगा। क्योंकि 'घात' शब्द का प्रयोग जब किसी प्राणी के साथ होता है तब तो यह अपने वाच्यार्थ को ही कहता है, किन्तु जब इसका प्रयोग हम 'विश्वास' शब्द के साथ करते हैं तो इसका अर्थ भी वहाँ लाक्षणिक हो जाता है। इसलिए जब किसी वक्ता या लेखक ने प्रथम बार यह प्रयोग किया होगा तो इस की विलक्षणता पर श्रोता और पाठक निश्चय ही मुग्ध हो गये होंगे।

विश्वासवञ्चनां करोति

'विश्वासघात करना' से समानता रखने वाला संस्कृत का वाग्योग है—विश्वासवञ्चनां करोति। भास ने अपने एक नाटक में इसका प्रयोग किया है। यथा :—

अथ कस्य गेहे इयं **विश्वासवञ्चना कृता**। चारुद० १११

'चारुदत्तम्' नाटक में, सज्जलक ने चारुदत्त ब्राह्मण (नाटक का नायक) के घर में चोरी की है। उसी सज्जलक के प्रति वसन्तसेना की चेटी की यह उक्ति है।

लघु कर्म करोति

'ओछा काम करना' हिन्दी का एक अन्य वाग्योग है। संस्कृत में भास ने अधोलिखित वाक्य में उसका प्रयोग किया है। देखिए :—

अति **लघु** त्वया **कृतम्**। चारुद० ७१

लघु अर्थात् हल्का, ओछा। तात्पर्य है—निन्दित कर्म, जो भले व्यक्ति के द्वारा नहीं किया जाना चाहिए।

'चारुदत्तम्' नाटक में ही, अपने एक चेट (सेवक) के प्रति यह वसन्तसेना की उक्ति है। चारुदत्त से पुरस्कार में प्रावारक (दुशाला) प्राप्त करने वाले चेट ने, शिष्टजनोचित व्यवहार के विरुद्ध यह ओछा काम किया है कि पुरस्कार में प्रावारक देने वाले का नाम तक जानने की उसने चेष्टा नहीं की, जबकि उसे उससे परिचित होना चाहिए था।

लघुजनः

अर्थात् 'ओछा आदमी'। तात्पर्य है ऐसा आदमी, जो थोड़ी-सी सफलता से ही इतराने लगता है, फूलकर कुप्पा हो जाता है या अहंकार करने लगता है। भास ने इस वाग्योग का प्रयोग, एक सुन्दर सूक्ति में किया है :—

लघुजनस्य सुलभो विस्मयः। चारुद० ६८

इस सूक्ति में प्रयुक्त **'विस्मयः'** शब्द का अर्थ 'फूलकर कुप्पा होना' ही है। इस रूप में यह भी वाग्योगात्मक प्रयोग है।

नीचपथे प्रवर्तनम्

इसी श्रेणी का एक अन्य वाग्योग है—'नीचपथे प्रवर्तनम्'। अर्थात् 'नीचपथ पर चलना'। यहाँ नीचपथ से तात्पर्य निन्दित मार्ग से ही है। भास ने अपने एक नाटक में इसका प्रयोग किया है। यथा :—

कथं भवान् **नीचपथे प्रवर्तते**। प्रतिमा० ११६

—:०:—

प्रतारणापरक वाग्योग

भाषा का विशेष अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वक्ता की भाषा भावावेश में अधिक पैनी और अधिक प्रवाहमयी हो जाती है। इसके साथ ही भाषा अत्यधिक वाग्योगवती भी हो जाती है। सम्वादों में, भाषा की यह विशेषता, प्रायः देखने को मिलती है।

भास के नाटकों में वाग्योगों की बहुलता को प्रदर्शित करने के लिए, उनके नाटकों से जो उद्धरण हमने दिये हैं, वे सब इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

नाराजगी या रोष को प्रकट करते समय, वक्ता के मुख से प्रायः वाग्योगमयी भाषा अनायास ही निकल पड़ती है। भास के नाटकों में भी ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं, जिनमें वाग्योगों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। भास-प्रयुक्त कुछ ऐसे ही प्रतारणापरक वाग्योगों का विवेचन हम यहाँ करेंगे।

दास्याः पुत्रः

वस्तुतः, भास ही नहीं अपितु संस्कृत के अन्य अनेक कवियों ने भी प्रतारणापरक जिस वाग्योग का सर्वाधिक प्रयोग किया है, वह है :—

दास्याः पुत्रः । अर्थात् (दासी का पुत्र होना)

अथवा

दास्याः पुत्री । अर्थात् (दासी की पुत्री होना)

भास के नाटकों में उपर्युक्त वाग्योग का प्रयोग अधोलिखित उदाहरणों में दृष्टिगत होता है :—

अङ्घो **दास्याः पुत्रः** ! किमिदानीं कर्म न करोषि ।	प्रतिमा० ६६
एहि **दास्याः पुत्र** ! मृते मोक्ष्यामि ।	प्रतिमा० ६८
मा **दास्याः पुत्र** ! पारावतगलप्रविष्टमिव मूलकन्दं शीर्षकपालं मडमडायिष्यामि ।	चारुद० ४२
एत इदानीं **दास्याः पुत्राः** अर्थव्यापाराः ।	चारुद० १७
न केवलं **दास्याः पुत्रेण** पादौ धौतौ मुखमपि धौतम् ।	चारुद० ७८
अविहा, **दास्याः पुत्रेण** कुक्कुरेण प्रवेशः कृतः ।	चारुद० ९३
दास्याः पुत्रैर्मधुकरैः पीडितोऽस्मि ।	स्वप्न० ८८
दास्याः पुत्र्याः शीर्षं तावच्छित्वा… ।	चारुद० ३६

उपरि उद्धृत सभी स्थलों पर क्रोध की अभिव्यक्ति के लिए 'दास्याः पुत्रः' वाग्योग का प्रयोग, भास ने किया है । लिङ्ग अथवा विभक्ति और वचन की भिन्नता के अतिरिक्त इसमें कहीं कोई भिन्नता या रूपान्तर नहीं है ।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि संस्कृत भाषा के साथ ही साथ भास द्वारा प्रयुक्त प्रतारणापरक वाग्योगों में 'दास्याः पुत्रः' वाग्योग ही सर्वाधिक प्रयुक्त वाग्योग है ।

'दास्याः पुत्रः' वाग्योग की वाग्योगात्मकता के विषय में भी कुछ लिखना यहाँ अनुचित नहीं होगा । ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि ऊपर के सभी उदाहरणों में 'दास्याः पुत्रः' वाग्योग का प्रयोग उन्हीं व्यक्तियों के लिए हुआ है, जो तथ्यात्मक दृष्टि से दासी के पुत्र नहीं हैं । इसी कारण, इस वाग्योग से यहाँ प्रतारणा अभिव्यंजित होती है । दूसरी बात यह कि 'आक्रोश' को व्यक्त करने के कारण ही इस वाक्यांश को 'वाग्योग' की कोटि में गिना जाता है, तथ्य-प्रकट करने के लिए नहीं । इसीलिए 'षष्ठया आक्रोशे' अष्टाध्यायी, ६/३/२१ इस नियम से यहाँ पर दास्याः में षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं होता है ।

इस वाग्योग से तत्कालीन सामाजिक दशा पर भी प्रकाश पड़ता है । इससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में, पत्नियों के अतिरिक्त दासियों से भी सन्तान उत्पन्न हो जाया करती थी, जिसे समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था । यद्यपि दास भी, उन दिनों थे, और उनसे उनकी पत्नी में उत्पन्न सन्तान भी थीं, किन्तु वैध सन्तान होने के कारण उन्हें हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था । केवल दासी में उत्पन्न अवैध सन्तान को हेय दृष्टि से देखा जाता था । किन्तु, समाज में एक बार ऐसी

मान्यता हो जाने पर अपशब्द के रूप में, उस व्यक्ति को भी गाली देने के लिए इस वाक्य का प्रयोग हो जाता था, जो दासी की सन्तान (पुत्र या पुत्री) नहीं होता था।

शनैः शनैः, समय बीतने के साथ ही यह वाक्य गाली (अपशब्द) के रूप में रूढ़ि बन गया। बाद में, प्रतारणा के लिए ही इसका प्रयोग होने लगा। केवल मनुष्यों के लिए ही नहीं, अपितु मनुष्य-भिन्न प्राणियों आदि के लिए भी इसका प्रयोग 'वाग्योग' के रूप में मिलता है। भास ने भी, उपरि उद्धृत उदाहरणों में से एक में कुत्ते के लिए और एक अन्य में भ्रमरों के लिये इस वाग्योग का प्रयोग किया है।

एक अन्य स्थल पर तो 'अर्थव्यापरों' को भी 'दास्याः पुत्राः' कह दिया गया है।

ऐसे अनेक उदारणों से नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि इस 'दास्याः पुत्रः' वाग्योग का प्रयोग झुँझलाहट में गालीमात्र के लिये ही होता था।

महाब्राह्मणः

अपशब्द के रूप में, प्रतारणा के लिये प्रयुक्त होने वाला संस्कृत का एक अन्य वाग्योग है—महाब्राह्मण।

वस्तुतः, जब ब्राह्मण को, ब्राह्मण न कहकर 'महाब्राह्मण' कह दिया जाता है, तो यह सम्बोधन गाली बन जाता है।

इस प्रकार की व्यंजना को पूरा-पूरा समझने के लिये 'महाब्राह्मण' वाग्योग का थोड़ा-सा विवेचन यहाँ आवश्यक है। हिन्दी में, बोलचाल में, 'गुरु' शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ में ही होता है। किन्तु, जब 'गुरु' के स्थान पर 'महागुरु' शब्द का प्रयोग किसी व्यक्ति के लिए किया जाता है, तो इसका व्यंग्यार्थ होता कि वह कोई ऐसा व्यक्ति है, जो अपने अनुचित व्यवहार अथवा कारगुजारी में बहुत ही बढ़ा-चढ़ा है। यही कारण है कि 'महागुरु' शब्द का प्रयोग हिन्दी में छली, कपटी और अत्यधिक चालाक व्यक्ति के लिये वाग्योग के रूप में प्रचलित हो गया है।

ठीक, महागुरु की भाँति ही, संस्कृत में 'महाब्राह्मण' शब्द का प्रयोग, ब्राह्मण के आचरण से विपरीत आचरण करने वाले व्यक्ति के लिये 'वाग्योग' के रूप में होता है।

वाग्योग के रूप में प्रयुक्त 'महाब्राह्मण' शब्द का व्यंग्यार्थ अथवा तात्पर्य है—'ब्राह्मणों में अधम'। स्मृति मे इसके लिये कहा गया है:—

'असिजीवी मसीजीवी देवलो ग्रामयाचकः।
धावकः पाचकश्चैतान् षड्विप्रान्नाभिवादयेत्॥

अर्थात् असिजीवी, मसीजीवी, देवल, ग्रामयाचक, धावक और पाचक आदि का काम करने वाले ब्राह्मण को अभिवादन नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये कर्म, ब्राह्मण के कर्म से निम्न कोटि के हैं। भास ने अपने नाटकों में ऐसे ब्राह्मणों के लिये ही 'महाब्राह्मण' वाग्योग का प्रयोग, प्रतारण सहित व्यंग्य में किया है। यथा :—

तदनुमन्तमर्हति **महाब्राह्मण** ! अविमा० ५०

प्रसीदतु प्रसीदतु **महाब्राह्मण** ! स्वप्न० ६७

उपरि उद्धृत दोनों ही स्थलों पर 'विदूषक' के लिये 'महाब्राह्मण' शब्द का प्रयोग हल्की-सी प्रतारणा के रूप में ही किया गया है।

'चारुदत्तम्' नाटक में, चार स्थलों पर, इसी रूप में 'महाब्राह्मण' वाग्योग का प्रयोग हुआ है। यथा :—

महाब्राह्मण ! अन्यशङ्कया खल्विदमस्मा-
भिरनुष्ठितं न दर्पात्। चारुद० ३८

महाब्राह्मण ! अयमनुनयसर्वस्वमञ्जलिः।
चारुद० ४०

महाब्राह्मण ! अयमर्थः सार्थवाहपुत्रस्य न
कथयितव्यः। चारुद० ४१

सुखं स्वपिहि **महाब्राह्मण**। चारुद० ६१

यहाँ भी, चारों स्थलों पर 'विदूषक' को ही 'महाब्राह्मण' कहा गया है। जैसाकि सभी संस्कृत-पाठक जानते हैं, विदूषक, जाति से ब्राह्मण होता है, किन्तु स्मृतियों के अनुसार ब्राह्मण-कर्म को न करके, अपनी जीविका के लिये राजा या सेठ साहूकार की चाकरी करता है। इसके साथ ही वह राजा का मित्र भी होता है। उसी घनिष्ठता के कारण, परिहासवश भी उसे 'महाब्राह्मण' कहा गया है। ठीक वैसे ही, जैसे घनिष्ठ मित्र, परस्पर गालियों का प्रयोग अनौपचारिक वार्तालाप में किया करते हैं।

'चारुदत्तम्' नाटक में, एक ही स्थल पर 'महाब्राह्मण' और 'ब्राह्मण' शब्द के प्रयोग से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। देखिए :—

सज्जलकः—"सुखं स्वपिहि **महाब्राह्मण** ! (विचिन्त्य) भोः !
ब्राह्मणेन विश्वासाद् दीयमान मया हतव्यमासीत् ?"

—चारुद० ६१,

यहाँ 'महाब्राह्मण' वाग्योग का प्रयोग, ब्राह्मण की बुद्धिमत्ता, विवेकशीलता आदि के विपरीत गुणों वाले विदूषक के लिये हुआ है। साथ ही, 'ब्राह्मणेन' पद में, ब्राह्मण शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ में ही हुआ है। कारण, प्रथम स्थल पर, सज्जलक ने विदूषक की मूर्खता पर व्यंग्य किया है, जबकि दूसरे स्थल पर अपने आचरण पर विचार करते हुए वह गम्भीर हो गया है।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि 'महाब्राह्मण' शब्द का प्रयोग व्यंग्यार्थ में वाग्योगात्मक ही है।

अतिपण्डित:

भास ने, अपने 'अविमारकम्' नाटक में, विदूषक के लिये 'अतिपण्डित' शब्द का प्रयोग किया है। व्यंग्यार्थ में प्रयुक्त होने के कारण यह भी वाग्योगात्मक ही है। मूल उद्धरण से भी यही प्रकट होता है। देखिए :—

अविमारक:—सखे ! **अतिपण्डित** इव किमेतत् । अविमा० १२४

(अर्थात् क्यों जरूरत से ज्यादा होशियार बन रहे हो।)

अविमारक की इस उक्ति पर विदूषक का कथन है: :—

भो:, नित्यपरिचयेन **मां परिहससि** । अविमा० १२४

(अर्थात् प्रतिदिन साथ रहने के कारण तुम मेरा उपहास कर रहे हो मेरा मजाक उड़ा रहे हो।)

इस प्रकार, विदूषक के कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है कि 'अतिपण्डित का प्रयोग यहाँ वाग्योगात्मक ही है।

हताश:

दास्या: पुत्र:, महाब्राह्मण: और अतिपण्डित: की अपेक्षा कुछ कम कटु एवं कुछ हलके व्यंग्यवाला, ऐसा ही एक अन्य वाग्योग हताश है। भास ने अपने नाटकों में कुछ स्थलों पर इस वाग्योग का प्रयोग किया है। देखिए: —

हताश ! सन्धिं छित्वा चौर: प्रविष्ट: ।	चारुद० ९२	(अभागा होना)
कुत्र गता **हताशा** ।	चारुद० १०८	(अभागी होना)
हताशे ! मा खलु वर्धय ।	चारुद० १२४	(" ")

उपरि लिखित तीनों ही उद्धरणों का सन्दर्भ, झुंझलाहट और खीझ से पूर्ण है। वक्ताओं ने सम्बन्धित व्यक्ति की अयोग्यता, मूर्खता और गुणहीनता के कारण ही उसके लिये इस वाग्योग का प्रयोग किया है। अत:, 'हता आशा यस्य स: (या यस्या: सा) के अनुसार व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के बहुत प्रासंगिक न होने पर भी, केवल अपनी खीझ, झुँझलाहट और आक्रोश को प्रकट करने के लिये ही वक्ताओं ने गाली के रूप में ही इस वाग्योग का प्रयोग किया है।

अपध्वंस:

इसी कोटि में 'अपध्वंस' वाग्योग की गणना भी की जानी चाहिए। उसका प्रयोग भी दो स्थलों पर, भास ने किया है। यथा :—

आ: **अपध्वंस** !	अभिषे० ९१	(परे हो जाना, मरना)
आ: **अपध्वंस** !	बालच० ३२	(" ")

यहाँ भी वक्ता का तात्पर्य अपना आक्रोश प्रकट करना ही है।

—:o:—

उपमानात्मक वाग्योग

सादृश्यमूलक अलङ्कारों में स्वीकृत उपमान भी वाग्योग ही हैं। क्योंकि, विलक्षणता और प्रयोगबहुलता—वाग्योग की ये दो विशेषतायें उनमें भी मिलती हैं। अपने प्रादुर्भावकाल में उपमानों के प्रयोग में विलक्षणता ही अधिक रहती है और उसी विलक्षणता के कारण अधिक लोग, अधिक बार उनका प्रयोग करने लगते हैं। शनैः शनैः उनका प्रयोग रूढ़ि के रूप में होने लगता है। तब, उनकी विलक्षणता पृष्ठभूमि में चली जाती है और इसका स्थान प्रयोगबहुलता ले लेती हैं।

उपमानों को वाग्योग मानने में एक अन्य कारण यह भी है कि उपमानों के प्रयोग से भी अभिव्यक्ति में उसी प्रकार की सहायता मिलती है, जैसी कि वाग्योगों के प्रयोग से मिलती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्कृत में सामान्यतया प्रयुक्त मुखचन्द्रमा, करकमल और पदपंकज आदि जैसे सभी प्रयोग वाग्योग ही हैं।

भास के नाटकों में इस कोटि के अनेक वाग्योगों का प्रयोग मिलता है। यहाँ हम सामान्य प्रयोगों को छोड़कर, भास द्वारा प्रयुक्त कुछ विशेष-विशेष वाग्योगों का ही विवेचन करना अपेक्षित समझते हैं। यथा: —

कस्मात्त्वं **कृतसमावर्तो वटुक** इव त्वरसे ? अविमा० ११८

शीघ्रता करने वाले व्यक्ति के लिये, यहाँ भास ने एक बहुत ही विलक्षण उपमान का प्रयोग किया है—कृतसमावर्तो वटुकः।

तात्पर्य है कि जिस प्रकार अध्ययनकाल के तपस्वी जीवन के उपरान्त ब्रह्मचारी समावर्तन संस्कार कराते ही, गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिये उतावला रहता है, उसी प्रकार तुम भी उतावले हो रहे हो।

हन्त, **सत्पुरुषरोष** इव प्रशान्तो भगवान्
हुताशनः। पञ्चरा० १३,

(अर्थात् अग्नि इस प्रकार (जल्दी ही) शान्त हो गया है, जिस प्रकार सत्पुरुष का रोष (जल्दी ही) शान्त हो जाता है।)

तां **पद्मिनीं हिमहतामिव** चिन्तयामि। स्वप्न० १२

(तात्पर्य है—पाले से मारी गयी पद्मिनी के समान चिन्ता का विषय होना।)

जीमूतचन्द्र इव खे प्रभया विमुक्तः। प्रतिमा० १५६

(अर्थात् बादलों में चन्द्रमा के समान कान्तिहीन हो जाना।)

चित्रार्पिताङ्गा इव। कर्णभा० १५

(अर्थात् चित्रलिखा-सा (जड) होना ।

राहुवक्त्रान्तर्गता चन्द्रलेखेव । दूतवा० ११

(अर्थात् राहु के मुँह में गयी हुई चन्द्रमा की कला-सा होना ।)

किं द्रष्टव्यः **शशाङ्कोऽयं राहोर्वदन-**

मण्डले । बालच० ९

(अर्थात् राहु के मुँह में फँसे चन्द्रमा के समान (संकटग्रस्त) होना ।)

मनोजवो **मारुततुल्यवेगः ।** बालच० ४६

(अर्थात् वेग में वायु के समान होना ।)

संसर्पणे पन्नगः । चारुद० ८७

(अर्थात् सरक जाने में सर्प (के समान) होना ।)

वृकोऽपसरणे । चारुद० ८७

अर्थात् हटकर दूर चले जाने में भेड़िये-जैसा होना ।)

मार्जारः प्लवने । चारुद० ८७

(अर्थात् भाग जाने में बिलाऊ–जैसा होना ।)

भयदो भयस्य । बालच० ३२

(भय का भी भय होना ।)

यमस्य यमः । बालच० ३२

(यम का भी यम अर्थात् काल का भी काल होना ।)

प्रमुख व्यक्ति के लिए चन्द्रमा और गौण व्यक्तियों के लिए नक्षत्रों को उपमान के रूप में, प्रायः प्रयुक्त किया जाता है । भास ने भी ऐसे कुछ प्रयोग किये हैं । यथाः —

नक्षत्रमध्य इव पर्वगतः **शशाङ्कः ।** दूतवा० ४

(अर्थात् नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा होना ।)

आगते **चन्द्रे** समागतानि सर्वनक्षत्राणि । प्रतिज्ञा० ८२

(अर्थात् चन्द्रमा के आने पर नक्षत्रों का आना ।)

ये दोनों ही उदाहरण सादृश्य के आधार पर बने वाग्योगों के हैं । अर्थात् जो व्यक्ति चन्द्रमा या नक्षत्र नहीं हैं, उन्हीं को प्रधानता और गौणता के कारण यहाँ चन्द्रमा और नक्षत्र कहा गया है । यहाँ लाक्षणिकता के कारण ही ये वाग्योग बने हैं ।

संस्कृत में 'क्रोधानल' और 'क्रोधाग्नि'—जैसे समस्त शब्द भी वाग्योग ही हैं । क्योंकि एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए इन शब्दों का प्रयोग होता है । इन वाग्योगों से भावाभिव्यक्ति में सुविधा हो जाती है और संक्षेप में ही वांछित भाव को अभिव्यक्त कर दिया जा सकता है । भास के नाटकों में ऐसे अनेक वाग्योग हैं । कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं:—

भीमस्य **कोपशिखिना**···कुरुवंशवनं विनष्टम् । दूतवा० १६

केवल 'कोप' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट नहीं होता कि शत्रु के ऊपर उसका प्रभाव किस रूप में होगा । **'कोपशिखिना'** वाग्योग से अभिव्यक्ति एकदम पैनी हो जाती है और ज्ञात होता है कि शत्रु को नष्ट कर दिया जायगा ।

'कोपशिखिना' वाग्योग के प्रयोग से ही 'कुरुवंशवनम्' के लिये भी भूमिका बन जाती है । इस प्रकार सम्पूर्ण अभिव्यक्ति ही यहाँ आलङ्कारिक हो जाती है । यहाँ बिम्बविधान में भी 'कोपशिखिना' वाग्योग से सफलता मिलती है ।

क्रुद्धो दहन्निव **क्रोधाग्निना** । अविमा० १५१

'क्रोधाग्नि' वाग्योग के साथ ही 'क्रोधाग्निना दहन्निव'—यह वाक्य भी यहाँ वाग्योगात्मक है । मनुष्य में केवल क्रोध ही हो सकता है, न तो उसमें अग्नि हो सकती है और न ही वह जला सकता है । व्यंजना के लिए ही ऐसे वाग्योगों का महत्त्व है ।

एक स्थल पर **'शोकाग्नि'** शब्द का प्रयोग भी भास ने किया है । किन्तु क्रोधाग्नि के समान बहुप्रयुक्त न होने से इसे वाग्योग नहीं माना जा सकता । भास ने इस का प्रयोग अधोलिखित वाक्य में किया है :—

हृदयस्थितशोकाग्नि**शोषितमाननम**ागतम् । प्रतिमा० १५२

शोकाग्नि की तुलना में 'शोषितमाननम्' एक अच्छा वाग्योग है । चिन्ता, भय आदि से 'मुँह सूखना' वाग्योग का प्रयोग बोलचाल में देखा जाता है।

इस प्रकार के वाग्योगों में **'व्यसनार्णव'** और **'प्रतिज्ञार्णव'** की भी गणना की जानी चाहिए । अपने नाटकों में, भास ने इनका प्रयोग एकाधिक स्थलों पर किया है । यथा :—

केनैष **व्यसनार्णवस्य** सेतुबन्धः कृतः । दूतवा० ७

यहाँ 'व्यसनार्णव' अर्थात् संकटों का समुद्र होना या विपत्तियों का सागर होना' वाग्योग तो है ही, इसके साथ ही **'अर्णवस्य सेतुबन्धः कृतः'** (अर्थात् समुद्र पर पुल बाँधना) भी अच्छा वाग्योग है। व्यंग्यार्थ है कि समुद्र पर पुल बाँधना जैसा असम्भव काम कर लेना ।

भास का ही एक अन्य प्रयोग है :—

तीर्त्वा···दोर्भ्यां **प्रतिज्ञार्णवम्** । अभिषे० ११४

तीर्त्वा **प्रतिज्ञार्णव**माहवेऽद्य । अभिषे० २२३

उपर्युक्त दोनों ही स्थलों पर 'प्रतिज्ञार्णव' वाग्योग का प्रयोग है । तात्पर्य है, तैरकर समुद्र को पार करने जैसी कठिन प्रतिज्ञा को पूरा करना ।

—:o:—

'च्वि' प्रत्ययवाले वाग्योग

संस्कृत में 'च्वि' प्रत्यय से बने शब्दों का प्रयोग वाग्योगों के रूप में होता है। इससे ज्ञात होता है कि पहले कोई प्रयोग भाषा में चल पड़ता है, तब व्याकरण में भी उसके लिए नियम बना दिया जाता है। भाषा अर्थात् बोलचाल में ही वाग्योगों का प्रयोग पहले होता है, वहीं से बाद में साहित्यकार एवं कवि उनका प्रयोग अपनी रचनाओं में करने लगते हैं। 'च्वि' प्रत्यय से बने शब्दों पर यह बात पूर्णरूपेण घटित होती है।

पाणिनि (अष्टाध्यायी ५।४।५०) के अनुसार 'च्वि' प्रत्यय 'अभूततद्भाव' अर्थ में होता है। अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है, उस वस्तु को वैसा कहा जाय तो 'च्वि' प्रत्यय होता है। संक्षेप में 'च्वि' प्रत्यय का व्यंग्यार्थ है—'जो जैसा नहीं है उसका वैसा होना'। इस व्यंग्यार्थ के कारण ही 'च्वि' प्रत्यय वाले शब्दों में वाग्योगात्मकता आती है।

'च्वि' प्रत्यय से बने शब्दों के बाद 'भू' कृ और अस्—इन तीन धातुओं में से किसी एक का प्रयोग होता है। भास के नाटकों से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं :—

एष **भस्मी करो**ऽयस्मत्क्रोधानलकणैः क्षणात्।	अभिषे० ५१	(किसी व्यक्ति को भस्म करना)
एष त्वां **भस्मी करोमि**।	बालच० ७९	,,
पञ्चानां पाण्डवाग्नीनामात्मा केनेन्**धनी कृतः**।	दूतघ० ७	(स्वयं को इन्धन करना)
अथ किमर्थमिदानीं भवान् क्षितितलं **देवलोकी करोति**।	अविमा० १०२	(धरती को देवलोक बनाना)
शङ्खध्वनिर्वनमिदं **नगरी करोति**।	प्रतिमा० १०७	(जंगल में मंगल करना)
कोऽयं भो ! निभृतं तपोवनमिदं **ग्रामी करो**त्याज्ञया।	स्वप्न० ८	,,
दैवतं **मानुषी भूत**मेष तावन्नमस्यताम्।	पञ्चरा० २०	(देवता का मनुष्य होना)
शरैः **स्तम्भी भूता** स्यन्दनवराः।	पञ्चरा० ७४	(रथों का स्तम्भ होना)

प्रारम्भ के सभी उदाहरणों में 'च्वि' के साथ 'कृ' धातु का प्रयोग हुआ है। बाद के दो उदाहरणों में 'च्वि' के साथ 'भू' धातु का प्रयोग है।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में भास ने अपनी अभिव्यक्ति को वाग्योगात्मकता प्रदान की है।

भस्मी करोति

प्रथम उदाहरण में 'भस्म करना' से तात्पर्य नष्ट कर देने से है। इस उक्ति में रावण ने हनुमान (वानर) को मार डालने की धमकी दी है। यहाँ 'भस्म करना' वाग्योग के साथ ही 'क्रोधानल' पद भी वाग्योग के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि भस्म करने के लिए 'अनल' का होना भी अनिवार्य है, जो किसी मानव (या राक्षस) में क्रोध के रूप में ही सम्भव है, भौतिक अग्नि के रूप में नहीं। ऐसी ही अभिव्यक्तियों में 'क्रोधानल'—जैसे आलङ्कारिक वाग्योग साहित्य में दृष्टिगोचर होते हैं।

द्वितीय उदाहरण में, कालिय नाग ने भी कृष्ण को अपनी विषाग्नि से भस्म कर देने की बात इसी रूप में कही है।

आत्मानमीन्धनी करोति

तृतीय उदाहरण में किसी मनुष्य द्वारा अपने को 'ईन्धन बनाना' भी तभी सम्भव है, जब वहाँ अग्नि विद्यमान हो। अतः, यहाँ पाण्डवों को अग्नि (पाण्डवाग्नीनाम्) और उनके शत्रु को ईन्धन कहा गया है।

वस्तुतः 'पाण्डवाग्नीनामात्मानमीन्धनी करोति'—यहाँ, रूपकालंकार में वाग्योग का प्रयोग है। इसी प्रकार अनेक वाग्योगों का प्रयोग अलंकारों में दिखलाई पड़ता है।

क्षितितलं देवलोकी करोति

'धरती को स्वर्ग बनाना' यह हिन्दी में प्रचलित वाग्योग है। तात्पर्य है, धरती पर ऐसा सुखमय वातावरण बना देना, जैसे सुखमय वातावरण की कल्पना स्वर्ग में की जाती है। वैसे 'स्वर्ग' शब्द स्वयं में भी वाग्योग के रूप में प्रयुक्त होता है। जब हम 'सुखमय लोक' के लिए इसका प्रयोग करते हैं, तब यह एक लाक्षणिक प्रयोग होता है। किन्तु, जब हम 'धरती को स्वर्ग बनाना' जैसा प्रयोग करते हैं तो यह वाग्योग का भी वाग्योग बन जाता है।

वनमिदं नगरी करोति
तपोवनमिदं ग्रामीकरोति

इन दोनों स्थलों पर एक ही वाग्योग 'जंगल में मंगल करना' का ही प्रयोग दो रूपों में हुआ है। रूपान्तर का कारण यहाँ छन्द का बन्धन है। प्रथम स्थल पर 'वसन्ततिलका' छन्द है और द्वितीय स्थल पर शार्दूलविक्रीडित। छन्द में वर्णों के

कर्म और अधिक हो जाने से 'वाग्योग' में प्रयुक्त पदों में थोड़ा परिवर्तन कवि को करना पड़ा है। दोनों स्थलों पर तात्पर्य एक ही है कि शान्त, निर्जन प्रान्त को कोलाहलमय एवं जनाकीर्ण किया जा रहा है।

मानुषी भूत
स्तम्भी भूत

ये दोनों ही वाग्योग 'च्वि' प्रत्यय के बाद 'भू' धातु के प्रयोग से बने हैं। (भू+क्त=भूत) लिङ्ग व वचन के भेद से स्तम्भीभूतम् तथा स्तम्भीभूताः रूपों का प्रयोग हुआ है। प्रथम वाग्योग से तात्पर्य है, जो मानुष नहीं है वह (देवता) मानुष बन गया है और दूसरे वाग्योग से तात्पर्य है, जो चलने वाले रथ हैं वे स्तम्भ-सदृश स्थिर हो गये हैं। वस्तुतः, संक्षेप में अधिक अर्थ की व्यंजना करना ही यहाँ वाग्योग का उद्देश्य है।

दैवतं मानुषीभूतम्। पञ्चरा० २०
शरैः स्तम्भीभूताः स्यन्दनवराः। पञ्चरा० ७४

'च्वि' प्रत्यय वाले सभी वाग्योग 'देवलोकी करोति' की भाँति असमस्त रूप में ही होने चाहिए, क्योंकि च्व्यन्त शब्द अव्यय होते हैं और अव्यय शब्दों से समास नहीं होता है।

—:०:—

नामधातुरूप वाग्योग

संस्कृत में नामधातुओं का प्रयोग भी वाग्योगों के रूप में होता है। उनसे प्रकट होने वाला अर्थ वस्तुतः इसी का सूचक है। उदाहरण के लिए 'कालिदासायते' का प्रयोग ऐसे व्यक्ति के लिए किया जाता है जो कालिदास तो नहीं है, किन्तु **कालिदास बनता** है। अर्थात् कालिदास की काव्य-प्रतिभा से बहुत दूर रहते हुए भी कालिदास बनने का अभिनय करता है।

भास ने भी नामधातुरूप वाग्योग का प्रयोग किया है। यथा :—

नेमीमण्डलमण्डलीकृतवपुः **सूर्यायते** पावकः। पञ्चरा० ६ (सूर्य बनना)

अर्थात् अग्नि सूर्य बन रहा है।

संक्षेप में, नामधातुरूप सभी पद वाग्योग ही होते हैं। क्योंकि उनका प्रयोग वाच्यार्थ में न होकर लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में ही होता है और यह विलक्षणता या व्यंजकता ही वाग्योग की सबसे प्रमुख विशेषता होती है।

—:०:—

कथात्मक वाग्योग

'राम होना' या 'रावण होना'—जैसे वाग्योगों का प्रयोग हिन्दी में प्रायः होता है। निःसंदेह, ऐसे वाग्योगों का प्रादुर्भाव प्राचीन कथाओं के आधार पर ही हुआ है।

संस्कृत में भी ऐसे अनेक वाग्योग हैं, जिनका प्रादुर्भाव प्राचीन कथाओं के आधार पर हुआ है। भास के नाटकों से दो ऐसे वाग्योग यहाँ प्रस्तुत हैं।

हनूमत्त्वं गच्छति

'हनूमान होना' इस वाग्योग का प्रयोग भास ने अपने 'पञ्चरात्रम्' नाटक में एक स्थल पर किया है। यथा :—

अद्य मे कार्यलोभेन **हनूमत्त्वं गता स्पृहा।** पञ्चरा० ४२

द्रोणाचार्य, दुर्योधन को इस बात के लिए मना लेते हैं कि यदि पञ्चरात्र में पाण्डवों को खोज लिया गया और वे लौट आये तो वह उनका राज्य उन्हें दे देगा। अब समस्या है कि पाण्डवों का पता लगाया जाय। इसी प्रसंग में द्रोण की यह उक्ति है कि आज मेरी इच्छा वैसी ही हो रही है जैसी कि सीता को खोजने के लिए हनुमान की हुई थी।

क्रौञ्चत्वं गच्छति

'क्रौञ्च होना' इस वाग्योग का प्रयोग 'प्रतिमानाटकम्' में हुआ है। यथाः—

सौवर्णान् वा मृगांस्तान् हिमवान् मे दर्शयिष्यति।
भिन्नो मद्बाणवेगेन **क्रौञ्चत्वं वा गमिष्यति॥** प्रतिमा० १३६

यहाँ यह राम की उक्ति है। राम कहते हैं कि पिता का श्राद्ध करने के लिए यदि हिमालय ने स्वर्णमृग मुझे नहीं दिये तो वह मेरे बाणों से बिंधकर क्रौञ्च पर्वत बन जायगा।

पौराणिक कथा है कि परशुराम और कार्तिकेय ने शिव से बाणविद्या सीखी थी और उसमें अपनी-अपनी उत्कृष्टता प्रदर्शित करने के लिए प्रतिस्पर्द्धा में बाण चलाकर क्रौञ्च पर्वत को बेध डाला था।

स्पष्ट है कि उपरिलिखित दोनों वाग्योगों का प्रादुर्भाव उपर्युक्त प्राचीन कथाओं के आधार पर ही हुआ है। इन वाग्योगों को सुनते ही उन प्राचीन कथाओं की पूर्ण व्यंजना यहाँ हो जाती है।

—:०:—

किमात्मक वाग्योग

'किम्' शब्द से बने सभी वाग्योग इसी श्रेणी के हैं। यथा :—

का गतिः ।

का शक्तिः ।

का कथा ।

को विश्रमः ।

कुतः श्रमः । आदि-आदि ।

यहाँ, हम क्रमशः इन्हीं का विवेचन करेंगे ।

अन्य सभी भाषाओं की भाँति ही संस्कृत में भी लाचारी, असमर्थता एवं विवशता को अभिव्यक्त करने के लिए विशिष्ट शब्दावलि का प्रयोग किया जाता है। इस कोटि के वाग्योगों में, संस्कृत में बहुप्रचलित वाग्योग है :—

का गतिः

भास के नाटकों में 'का गतिः' वाग्योग का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। उदाहरणार्थ :—

का गतिः । श्रृणोतु भर्ता ।	बालच० १८	चारा ही क्या है ? विवशता है ।
का गतिः ।...यास्यामि ।	अविमा० ७६	अथवा क्या किया जाय
का गतिः । श्रूयताम् ।	प्रतिमा० ८४	,,
का गतिः । श्रूयताम् ।	प्रतिमा० १५९	,,
का गतिः । एषा गच्छामि मन्दभागा ।	स्वप्न० २९	,,
का गतिः ।	स्वप्न० ३०	,,
का गतिः । श्रूयताम् ।	स्वप्न० ९५	,,
का गतिः । आनय, गृह्णामि ।	चारुद० ८०	,,

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में 'का गतिः' वाग्योग का प्रयोग, स्वयं वक्ता ने अपनी उक्ति में ही किया है और सभी स्थलों पर, वक्ता की विवशता ही इससे अभिव्यक्त होती है।

का शक्तिः

'का गतिः' वाग्योग-जैसा ही दूसरा वाग्योग 'का शक्तिः' है। तात्पर्य है— शक्ति की कमी होना अर्थात् शक्ति सम्बन्धिनी विवशता का होना। इसका प्रयोग भास ने अधोलिखित स्थल पर किया है :—

का शक्तिरस्ति मम दग्धुमिमं सुवीर्यम् । बालच० ८०

'बालचरितम्' नाटक में दामोदर (श्रीकृष्ण) के प्रति, उनको मारने में असमर्थ हुए 'कालिय नाग' की यह उक्ति है।

'का शक्तिः' वाग्योग केवल शक्तिहीनता से होने वाली विवशता को व्यक्त करता है, जबकि 'का गतिः' वाग्योग से अभिव्यक्त होने वाली विवशता किसी भी प्रकार की हो सकती है। शक्ति, धन, विद्या, बुद्धि आदि सभी प्रकार की विवशता या लाचारी को व्यक्त करने के लिए 'का गतिः' वाग्योग बहुत ही उपयुक्त है। इन दोनों में यही अन्तर है।

इसी श्रेणी का तृतीय वाग्योग हैं :—

का कथा

भास ने अपने 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक में 'का कथा' वाग्योग का प्रयोग यौगन्धरायण की उक्ति में इस प्रकार किया है :—

यौगन्धरायणः—अहो हास्यमाभिधानम्।
भवतां चाग्रतो यातः शेषकार्येषु **का कथा**। प्रतिज्ञा० १२७

तात्पर्य है कि प्रस्तुत विषय में अब और 'कहना ही क्या है ?'। अर्थात् ऐसी बात, वर्तमान परिस्थिति में जिसे कहने की ही आवश्यकता नहीं है अथवा जिसको कहना ही व्यर्थ है या जिसे कहने से कोई भी लाभ नहीं है, आदि-आदि।

को विश्रमः

भास ने अपने 'अविमारकम्' नाटक में 'को विश्रमः' वाग्योग का प्रयोग किया है। देखिए :—

को विश्रमो नाम विभ्रष्टमनोरथानाम्। अविमा० ११५

अर्थात् जो व्यक्ति अपने मनोरथ से भ्रष्ट हो चुके हैं, उन्हें तसल्ली कहाँ है ? उन्हें आराम कहाँ है ? उन्हें सन्तोष कहाँ है ? तात्पर्य यही है कि ऐसे व्यक्तियों को सन्तोष और विश्राम कभी भी प्राप्त नहीं होता है।

कुतः श्रमः

अर्थात् 'कुछ भी श्रम न होना'। भास ने निम्न श्लोक में इस वाग्योग का प्रयोग किया है :—

भवतां चाग्रतो यातः शेषकार्येषु का कथा।
समूलं वृक्षमुत्पाट्य शाखाच्छेत्तुं **कुतः श्रमः**। अविमा० १२७

यहाँ 'कुतः श्रमः' वाग्योग का प्रयोग, एक सुन्दर सूक्ति में, भास ने किया है। तात्पर्य है कि जड़ सहित वृक्ष को उखाड़ फेंकने वाले व्यक्ति के लिए जैसे उस वृक्ष की किसी शाखा को काटना कोई महत्त्व नहीं रखता है, साधारण सी बात होती है वैसे ही मुख्य और शक्तिशाली शत्रु को उखाड़ देने वाले वीर के लिए उसके सहायक या गौण शत्रु को नष्ट करना कोई श्रम का काम नहीं होता।

उपर्युक्त श्लोक में ही 'का कथा', और 'कुतः श्रमः' वाग्योगों के साथ ही दो और भी वाग्योगात्मक अभिव्यक्तियाँ है :—

१– समूलं वृक्षोत्पाटनम् । (कोई बड़ा भारी काम करना)

२– शाखाच्छेदनम् । (कोई छोटा-सा, हल्का-सा काम करना)

प्रसंग से स्पष्ट है कि यहाँ वृक्ष और शाखा शब्दों का प्रयोग किसी वन-प्रसंग में नहीं हुआ है । इसी कारण यहाँ ये वाग्योग हैं ।

कः कालः

किम् शब्द के साथ 'काल' शब्द को रखकर भी, भास ने एक वाग्योग का प्रयोग कुछ स्थलों पर किया है । यथा :—

कः कालः त्वामन्विष्यामि । स्वप्न० ६३ (बहुत देर हो गयी है)

कः कालः त्वामन्विष्यामि । स्वप्न० ७२ "

कः **कालः** कृतपरिघोषणतया
निः सम्पाता राजमार्गाः । चारुद० ७४ "

मागधिका—विलासिनि ! विरचय शयनानि ।
विलासिनी—**सुप्ता खलु त्वम्** । **कः कालः**
विरचितानि । "

उपरि उद्धृत सभी स्थलों पर '**कः कालः**' वाग्योग का प्रयोग—'कितना समय हो गया है ?' 'कितनी देर हो गयी है ?' अर्थात् 'बहुत समय हो गया है या बहुत देर हो गयी हैं' आदि अर्थों को प्रकट करने के लिए किया गया है ।

वाग्योग के सम्पूर्ण अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए यहाँ वक्ता को 'काकु' की भी सहायता लेनी पड़ती है ।

अन्तिम संवादात्मक उद्धरण में **कः कालः** (बहुत देर हो गयी है) वाग्योग के साथ ही —

सुप्ता खलु त्वम् ।

इस वाग्योग का प्रयोग भी देखने योग्य है । व्यंग्य से भरपूर इस वाग्योग से अभिप्राय है कि मुझे 'बिस्तर लगा देने' का आदेश देते वक्त तूने यह नहीं देखा कि बिस्तर पहले ही लग चुके हैं । प्रतीत होता है कि **तू सोयी हुई थी** । तात्पर्य है कि आदेश देने वाले व्यक्ति को तो अधिक सावधान और जाग्रत रहना चाहिए, तभी उसके आदेश का महत्व होता है । इन सभी वाग्योगों में व्यग्यार्थ की अभिव्यक्ति के लिए 'काकु' का सहयोग लेना पड़ता है ।

—:०:—

षष्ठ अध्याय

पदात्मक, समासात्मक, पदसमूहात्मक एवं वाक्यात्मक वाग्योग

पदात्मक वाग्योग

प्रस्तुत अध्याय में, रूप-रचना की दृष्टि से वर्गीकृत कुछ ऐसे वाग्योगों को प्रस्तुत किया जायगा, जिन्हें हम पदात्मक, पदसमूहात्मक, समासात्मक एवं वाक्यात्मक वाग्योग कह सकते हैं। आगे क्रमशः, इन्हीं का विवेचन प्रस्तुत है।

फलम्

हिन्दी भाषा में 'फल' शब्द का मुहावरेदार प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जाता है। जैसे—कर्मों का फल होना, पाप का फल होना, परिश्रम का फल होना, आदि-आदि। इन सभी स्थलों पर फल से तात्पर्य है—परिणाम से, या परिणाम-स्वरूप होने वाले सुख या दुःख से। अतः, जब फल शब्द का प्रयोग आम, अमरूद, पपीता और जामुन आदि से न होकर 'परिणाम' या 'परिणामस्वरूप होने वाले सुख या दुःख' के रूप में होता है, तो वह वाग्योग ही होता है। संस्कृत में इस वाग्योग का प्रयोग अनेकत्र मिलता है। भास ने भी अधोलिखित स्थलों पर इसका प्रयोग किया है :—

फलमपरितोषस्य।	उरुभ० ५३	(फल होना)
प्राप्तं खलु मया जीवितस्य **फलम्**।	अविमा० ८१	,,
भोः, यदृच्छया खलु मया महत्**फलम**।सादितम्।	प्रतिमा० ७९	(फल प्राप्त करना)
अनुभवन्त्वचिरादमृताशिनः **फलम**तो निजशाठ्य-समुद्भवम्।	अभिषे० ४७	(फल को भोगना)
सत्पुत्रजन्म**फलम**द्य प्राप्तवानस्मि।	बालच० ९८	,,
अद्य **सफलो** मे मनोरथः।	अविमा० ८०	(सफल होना)
भर्तृदारिकाया रूपयौवनं **सफलं** संवृत्तम्।	अविमा० ६१	,,
पापं **सफल**मस्तु।	प्रतिमा० ६४	(सफल होना)
अफलस्ते परिश्रमः।	पञ्चरा० २७	(फलहीन होना)
निष्फलामाशां परिवहन्।	प्रतिमा० ७३	(निष्फल होना)

सामान्यतया देखने से उपरि उद्धृत उदाहरणों में, सम्भव है, किसी को

'वाग्योग' होने का ज्ञान न हो। किन्तु, सूक्ष्मता से विचार करने पर ऊपर के सभी उदाहरणों में फल, सफल, अफल और निष्फल-ये सभी शब्द वाग्योगात्मक हैं। क्योंकि इन सभी स्थलों पर 'फल' शब्द फल वस्तु को न कहकर 'परिणाम' आदि की व्यंजना कर रहा है।

इस 'वाग्योग' के उद्भव की कल्पना यदि हम करें तो प्रतीत होता है कि आदि मानव ने, जब सर्वप्रथम किसी वृक्ष पर चढ़कर कोई मीठा फल प्राप्त किया होगा, तो उसका वह परिश्रम 'सफल' हुआ होगा। इसी प्रकार फल न मिलने पर अफल या निष्फल या 'कटुफल' वाला भी वह रहा होगा। फल या मधुर फल मिलने वाली अनुभूति सुखदायक रही होगी और फल न मिलने पर अनुभूति दुःखदायक भी निश्चय ही रही होगी। और, कभी ऐसा भी हुआ होगा कि मीठे फल की आशा से किये गये परिश्रम से भी कटुफल की प्राप्ति हुई होगी। इन सब अनुभूतियों के रूढ़ हो जाने पर ही बाद में अच्छे कार्य का परिणाम सुफल और बुरे कार्य का परिणाम कुफल भी कहा गया होगा।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि वाग्योगों का उद्भव स्थूल क्रियाओं से सूक्ष्म अनुभवों की ओर विकसित होता है। प्रारम्भ में स्थूल वस्तु या पदार्थ ही वाच्यार्थ के रूप में होते हैं। धीरे-धीरे वाचक शब्द लाक्षणिक हो जाते हैं और लक्षणा या व्यंजना के द्वारा उनसे लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने लगती है। ऐसा होने पर सामान्य प्रयोग, वाग्योग की योग्यता को प्राप्त कर लेता है।

'फल' के वाग्योगात्मक प्रयोग से यह बात नितान्त स्पष्ट हो जाती है।

प्रमाणम्

शब्द रूप वाग्योगों में, संस्कृत में 'प्रमाणम्' वाग्योग बहुत ही प्रचलित है। जब कोई सेवक या शिष्य अपने स्वामी या गुरु के प्रति इस वाग्योग का प्रयोग करता है, तब वह पहले सम्पूर्ण परिस्थिति को स्पष्ट कर देता है और तत्पश्चात् स्वामी या गुरु से उसका अन्तिम निर्णय जानने के लिए।

अत्र भवान् **प्रमाणम्**।

या अत्र स्वामी **प्रमाणम्**।

या अत्र गुरवः **प्रमाणम्**।

आदि वाक्यों का प्रयोग करता है। तात्पर्य होता है कि सारी परिस्थिति को जानकर आप अपना निर्णय दें कि अब इस विषय में क्या किया जाय?

इतनी अधिक व्यंजना को अपने में समेट लेने के कारण ही 'प्रमाणम्' यह एक शब्द, संस्कृत में एक उत्तम वाग्योग है। साथ ही, इसका प्रयोग इतना रूढ़ है कि इसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ पर ध्यान दिये बिना ही इसका प्रयोग प्रायः किया जाता है। 'प्रमाण' शब्द का अर्थ, इतना प्रसिद्ध है कि उस पर चर्चा करना यहाँ उपयुक्त

नहीं है। अतः, 'प्रमाणम्' शब्द का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग इसकी वाग्योग-योग्यता का ही प्रमाण है।

भास ने अपने नाटकों में अधोलिखित स्थलों पर इस वाग्योग का प्रयोग किया है :—

क्षमाक्षमत्वे तु भवान् **प्रमाणम्**।	पञ्चरा० ३९	आप चाहे क्षमा करें या क्षमा न करें।
देवस्तस्मात् **प्रमाणम्**।	अभिषे० ८२	इस विषय में देव जो चाहें, करें।
तत्र बलाबलचिन्तायां स्वामी **प्रमाणम्**।	अविमा० २१	अर्थात् इस विषय में अच्छे-बुरे का निर्णय स्वामी करें।
तेषां भक्षणनिमित्तं कुलपतिः **प्रमाणम्**।	प्रतिमा० १६९	खाद्य पदार्थ का निर्णय करें।

अर्थात् उन अतिथियों को खाने के लिए क्या देना है, इसका निर्णय कुलपति करें।

उपरि उद्धृत सभी उदाहरणों में 'प्रमाणम्', इस एक पदात्मक वाग्योग का प्रयोग हुआ है।

भाजनम्
पात्रम्

'भाजनम्' और 'पात्रम्' शब्द का प्रयोग जब किसी स्थूल द्रव्य जल या दुग्ध आदि के साथ न होकर गुण, यश आदि सूक्ष्म भावों के साथ होता है, तो ये वाग्योग की कोटि में आ जाते हैं। भास के नाटकों में भी इन वाग्योगों का प्रयोग हुआ है :—

भव जगति **गुणानां भाजनम्**।	प्रतिमा० १०८	गुणों का पात्र होना
कीर्तेर्महद भाजनम्।	प्रतिमा० १२३	यश का पात्र होना
क्व तत् **पात्रं यशसः**।	प्रतिमा० १०१	यश का पात्र होना

संस्कृत में इन वाग्योगों का प्रयोग अनेकत्र मिलता है।

मूलम्

'झगड़े की जड़ होना' हिन्दी का बहुप्रयुक्त मुहावरा है। संस्कृत में भी इसका प्रयोग मिलता है। भास के एक नाटक में एक स्थल पर इसका प्रयोग हुआ है। देखिए :—

हन्तैतदुत्पन्नं **कलहस्य मूलम्**।	बालच० ६	झगड़े की जड़ होना

इसी प्रकार से जब किसी साधारण-सी बात से कोई बड़ा झगड़ा हो जाता है, तो प्रायः हिन्दी में, बोलचाल की भाषा में लोगों को कहते सुना जाता है कि यूँही **'बात का बतङ्गड़'** बन गया । ठीक इसी अर्थ में भास ने अपने 'अविमारकम्' नाटक में अधोलिखित वाग्योग का प्रयोग किया है :—

अहो **अल्पमूलत्वं** महतोऽनर्थस्य । अविमा० १५२ (मामूली कारण होना)

एक अन्य स्थल पर भी भास से **'मूल'** शब्द का वाग्योगात्मक प्रयोग किया है । देखिए :—

मूले दैवेन ताडितम् । प्रतिमा० २७ (जड़ पर प्रहार करना)

वृक्ष की जड़ को काट देने से, जैसे सारा वृक्ष ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जब किसी कार्य के मूल कारण को ही नष्ट कर दिया जाता है, तब इस वाग्योग का प्रयोग होता है ।

शून्यम्

बच्चों के बाहर चले जाने पर, माँ-बाप को घर सूना लगने लगता है । अभिज्ञानशाकुन्तलम् में, शकुन्तला के हस्तिनापुर चले जाने पर प्रियंवदा और अनसूया को कण्व-आश्रम सूना लगने लगा था । वस्तुतः, यह अभिव्यक्ति वाग्योगात्मक है, क्योंकि अन्य सभी लोगों के रहते हुए घर या आश्रम, कोई भी स्थान सूना तो हो नहीं सकता ।

भास ने भी अपने नाटकों में, इस वाग्योग का प्रयोग किया है । यथा :—

"अहो······**शून्यै**वेयमयोध्या संलक्ष्यते ।" प्रतिमा० ४८

अर्थात् राम आदि के वन चले जाने पर अयोध्या सूनी दिखलाई पड़ रही है । चले जाने वाले के प्रति वक्ता का स्नेह ही इस वाग्योग से अभिव्यक्त होता है । इस व्यंजना में ही इस वाग्योग का सौन्दर्य है । लिङ्ग, वचन आदि के भेद से इस वाग्योग के अनेक रूप सम्भव हैं ।

सर्वस्वम्

संस्कृत में अनेक स्थलों पर, अनेक कवियों ने 'सर्वस्वम्' पद को वाग्योग के रूप में प्रयुक्त किया है । हिन्दी में भी इस प्रकार की उक्तियाँ प्रायः मिलती हैं, जिनमें वक्ता द्वारा अपनी किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु को अपना 'सब कुछ होना' कह दिया जाता है । उदाहरण के लिए किसी महिला के साथ बलात्कार हो जाने पर उसका तो 'सर्वस्व लुट गया'—जैसे वाक्यों का प्रयोग खूब होता है ।

संस्कृत में कालिदास ने 'रतिसर्वस्वमधरम्,' 'जीवितसर्वस्वम्' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्) आदि स्थलों पर 'सर्वस्वम्' का वाग्योगात्मक प्रयोग किया है । इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलों पर भी, संस्कृत में इस वाग्योग का प्रयोग मिलता है ।

भास ने 'चारुदत्तम्' नाटक में, एक स्थल पर 'सर्वस्वम्' वाग्योग का प्रयोग किया है :—

अयमनुनयसर्वस्वमञ्जलिः । चारुद० ४०

विदूषक के प्रति यह विट की उक्ति है । चारुदत्त की चेटी के प्रति शकार द्वारा दुर्व्यवहार किये जाने पर, विट ने यहाँ विदूषक से क्षमा माँगी है । तात्पर्य है कि जितनी भी अनुनय हो सकती है, उस सम्पूर्ण अनुनय को प्रकट करने वाली यह उसकी अञ्जलि है । अतः, इतनी अधिक अनुनय के साथ क्षमा माँगने पर तो विदूषक उसे अवश्य ही क्षमा कर देने की कृपा करे । क्षमा-याचना करने वाला व्यक्ति प्रायः अपनी सम्पूर्ण विनम्रता को प्रकट करते हुए यह विश्वास दिलाने का प्रयास किया करता है कि इस विषय में क्षमाप्रार्थी जितना कुछ भी कर सकता है, निश्चय ही उतना सब वह कर रहा है और उससे अधिक विनयी अन्य कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता । इस पर भी यदि क्षमा नहीं किया गया, तो क्षमा न करने वाला व्यक्ति ही कठोर एवं अनुदार माना जायगा ।

इस प्रकार अनुनय के साथ मिलकर 'सर्वस्वम्' वाग्योग से होने वाली व्यञ्जना यहाँ, अन्य किसी भी शब्द के प्रयोग से सम्भव नहीं है ।

कालः,

स्थानम्

संसार की ऐसी एक भी गति-विधि नहीं है, जिसका सम्बन्ध किसी काल से न हो या किसी देश से न हो । अतः, सामान्यतया सभी कार्यकलाप काल और देश से सम्बन्ध रखते हैं । यही कारण है कि सामान्य उक्तियों में कभी काल या देश का कथन नहीं किया जाता । हाँ, यदि विशेष काल या विशेष स्थान की सूचना देनी हो, तब अवश्य ही विशिष्ट काल या विशिष्ट स्थान का कथन कर दिया जाता है । उदाहरण के लिए, '**प्रातःकाल**' जाना है,' या '**रविवार** को जाना' है आदि-आदि, या **कार्यालय** जाना है या **दिल्ली** जाना है आदि-आदि ।

इसके विपरीत, विशेष उक्तियों में अर्थात् वाग्योगात्मक उक्तियों में प्रातः काल या कार्यालय आदि विशिष्ट शब्दों के बिना ही, केवल 'काल' या 'स्थान' शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

कालः

भास के नाटकों में ऐसे अनेक वाग्योग मिलते हैं, जिनमें 'काल' शब्द का प्रयोग हुआ है । यहाँ एक वाग्योग द्रष्टव्य है । यथा :—

'काले ज्ञास्यति । प्रतिज्ञा० ६८ अर्थात् उचित समय आने पर जान जाओगे ।

ऐसे स्थलों पर हिन्दी में 'उचित अवसर आने पर जानोगे' या 'मौका आने पर तुम्हें पता चल जायगा'—जैसी उक्तियों का प्रयोग होता है।

यहाँ 'काल' शब्द के वाग्योगात्मक प्रयोग को थोड़ा स्पष्ट करना आवश्यक है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है, सामान्य उक्तियों में 'काल' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती हैं। अतः, जिस उक्ति में भी 'काल' शब्द का प्रयोग है, उसे वाग्योगात्मक ही मानना उचित है। क्योंकि 'काल' शब्द से वहाँ 'उचित काल' 'ठीक समय' या 'उपयुक्त अवसर' की ही व्यञ्जना होती है। हाँ, सम्पूर्ण व्यंजना के लिए 'काले ज्ञास्यति'—जैसे वाक्यों में 'काले' शब्द के उच्चारण के साथ ही 'हाँ' की मुद्रा में, बल देने के लिए, सिर को दो-तीन बार ऊपर-नीचे हिलाना बहुत ही सहायक सिद्ध होता है।

'काल' से सम्बन्धित, भासप्रयुक्त अन्य वाग्योग इस प्रकार हैं—

काले ज्ञास्यसि।	बालच० ३५	ठीक समय आने पर
काले ज्ञास्यसि।	पञ्चरा० ४६	मौका आने पर
काले खल्वागता देव्यः।	प्रतिमा० ८६	”
अहमपि काले पार्श्वतः प्रभवामि।	अविमा० ६१	”
अयं खलु भर्तृपिण्ड-निष्क्रयस्य कालः	बालच० ६६,	उपयुक्त समय है।

इसके विपरीत अभिव्यक्ति के लिये 'अकाल' शब्द का प्रयोग भास ने अपने नाटक में किया है:—

'अकाले स्वस्थवाक्यं मन्युमुत्पादयति। पञ्चरा० ७२

अर्थात् अनुचित समय पर सामान्य वार्तालाप क्रोध जगाता है।

काल शब्द की भाँति ही, **'स्थान'** शब्द का भी वाग्योगात्मक प्रयोग भास ने किया है:—

मैथिलि! **स्थाने** खलु कृता चिन्ता। प्रतिमा० १२६.

निस्संदेह, यहाँ पर स्थान शब्द का प्रयोग वाग्योगात्मक ही है। तात्पर्य है, **उचित विषय** में चिन्ता की गयी है। अर्थात् हे मैथिलि! तुम्हारी चिन्ता ठीक ही है, उचित ही है।

'स्थान' शब्द वाला एक अन्य वाग्योग इस प्रकार है:—

राम इत्यक्षरैरल्पैः **स्थाने** व्याप्तमिदं जगत्। प्रतिमा० १४२

अर्थात् यह उपयुक्त ही है कि 'राम' इन थोड़े-से अक्षरों से यह जगत् व्याप्त हो रहा है।

एक अन्य वाग्योग में 'देश-काल' का एक साथ प्रयोग भी मिलता है। यथा :—

जात ! देशकाले निवेदयामि।   प्रतिमा० ६५

अर्थात् हे पुत्र उपयुक्त देश और उपयुक्त काल के आने पर मैं (कैकेयी) तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूँगी। 'देश' का अर्थ उपयुक्त देश होना, और 'काल' का अर्थ उपयुक्त काल होना, वाग्योग से ही सम्भव है।

'समय का फेर होना' मुहावरे के रूप में भी दो-तीन वाग्योग भास के नाटकों में मिलते हैं :—

शिक्षा क्षयं गच्छति **कालपर्ययात्**।   कर्णभा० २३

सोऽयं **कालविपर्यासा**च्चन्द्रो वह्नित्वमागतः।   उरुभ० ३६

निम्नस्थलोत्पादको हि **कालः**।   प्रतिमा० १७३

प्रवालः

प्रदीपः

कलङ्कः

भारतीय संस्कृति में सन्तति को महत्त्वपूर्ण माना गया है। संसार को चलाने वाली सन्तति ही होती है। धर्मशास्त्रों में पुत्र को बहुत महत्त्व दिया गया है। उसे पिता को पुम् नामक नरक से बचाने वाला कहा गया है। पिता के बाद परिवार का उत्तरदायित्व सम्हालने वाला भी पुत्र ही होता था, क्योंकि कन्या (पुत्री) तो दूसरे परिवार का अंग बन जाती है।

आगे चलकर परिवार के विकास में और परिवार के यश को बढ़ाने में पुत्र का विशेष योगदान माना जाने लगा। इसी परम्परा में जब वंश की समानता वृक्ष से की जाने लगी, तो पुत्र को 'कुलप्रवाल' कहा जाने लगा। कुल का यश बढ़ाने के कारण कहीं-कहीं वह 'कुलदीपक' भी कहा गया है। भास ने भी पुत्र के लिए इन वाग्योगों का प्रयोग किया है। यथा :—

अर्जुनस्य प्रथमः प्रवालः।   दूतवा० १८   (कुल का अंकुर होना कोंपल होना)

हा वत्स, यदु**कुलप्रवालः** ।	दूतवा० १८	(अँकुर अथवा कोंपल)
कुलप्रवालं परिगृह्यतां न: ।	अभिषे०	,,

किसी भी कुल में उत्पन्न बालक के लिए 'कुलप्रवाल', यदुकुल में होने वाले बालक के लिए 'यदुकुलप्रवाल' तथा अर्जुन के कुल में पैदा होने वाले प्रथम बालक 'अभिमन्यु' के लिये ही यहाँ अर्जुनस्य प्रथमः प्रवालः वाग्योगों का प्रयोग हुआ है।

इसी प्रकार :—

हा वत्स, कुरु**कुलप्रदीप** !	दूतवा० ३२	(कुलदीपक)
कौरव्य**कुलदीपेन** पाण्डवेन महात्मना ।	मध्यम० ३२	,,
इक्ष्वाकु**कुलदीपेन** सन्धाय हरिणा ।	अभिषे० ३८	,,

जब पुत्र, कुल का यश बढ़ाने की अपेक्षा कुल की अपकीर्ति को करने वाला होता था, तो उसके लिए भास ने दूसरे वाग्योग का प्रयोग किया है। देखिए :—

कुलकलङ्कभूत !	दूतवा० ३०	कुल का कलङ्क होना

किसी वंश के नष्ट हो जाने पर, उसे फिर से चलाने वाले बालक के लिए 'बीज' शब्द का प्रयोग भी वाग्योग के रूप में हुआ है :—

अस्मिन् काले दग्धभूयिष्ठशेषं न्यस्तं
बीजं रक्षितुं यादवानाम् । बालच० २८

भारः

'**भार**' शब्द का प्रयोग, भाषा में स्थूल अर्थ (बोझा) में ही किया जाता है। ग्रामीण भाषा में चारे, घास आदि के गट्ठर को 'भार' कहा जाता है। नागरिक भाषा में सोने-चाँदी की वस्तुओं के भार (वजन) की बात प्रायः होती रहती है। किन्तु अपने स्थूल अर्थ को छोड़कर, जब 'भार' शब्द का प्रयोग 'उत्तरदायित्व' जैसे सूक्ष्म अर्थ में किया जाता है, तब यह 'वाग्योग' बन जाता है। भास के नाटकों में अनेक स्थलों पर 'भार' शब्द का वाग्योगात्मक रूप में प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ :—

अहो महद्**भारो** राज्यं नाम ।	अविमा० २५	(उत्तरदायित्व होना)
अर्धमवसितं **भारस्य** ।	स्वप्न० ३०	,,
अहो महद्**भार**मुद्वहति रुमण्वान् ।	स्वप्न० ४४	,,

सविश्रमो ह्ययं **भारः** प्रसक्तस्य
तु न श्रमः । स्वप्न० ४४ (उत्तरदायित्व होना)

महान् खलु **भारः** प्रद्योतस्य
भार्ग्यैर्निस्तीर्णः । चारुद० ११ ''

उपर्युक्त सभी स्थलों पर 'भार' शब्द का प्रयोग 'उत्तरदायित्व' के ही अर्थ में 'भास' ने किया है ।

—:०:—

समासात्मक वाग्योग

वेषविपर्यस्तचित्तः

'अभिषेकनाटकम्' में, राम के प्रति वाली की उक्ति में, भास ने इस वाग्योग का प्रयोग किया है । यथा :—

''वाली—···भो राघव चीरवल्कलधारिणा
वेषविपर्यस्तचित्तेन मम भ्रात्रा सह (आडम्बरी होना)
युद्धव्यग्रस्याधर्म्यः खलु
प्रच्छन्नो वधः ।'' अभिषे० १४,

अर्थात् अपने वेश के विपरीत चित्तवाले तुम्हारे द्वारा छिपकर मेरा वध करना धर्म के अनुकूल नहीं है ।

रेणुपरुषः

दुरवस्था में इधर-उधर, विशेषतः नगरों से बाहर धूल वाले प्रदेशों में भटकने वाले के लिए इस वाग्योग का प्रयोग होता है । भास ने भी इसका प्रयोग किया है । यथा :—

'कान्तार**रेणुपरुषाः** पृथिवीं
भ्रमन्ति । पञ्चरा० ३० (धूलधूसरित होना)

'पञ्चरात्रम्' नाटक में, पाण्डवों की दशा को बतलाने वाली यह उक्ति भीष्म की है । यहाँ भीष्म ने व्यक्त किया है कि पाण्डव जंगल की धूलि से धूसरित हुए, पृथ्वी पर (इधर-उधर) भटक रहे हैं । इस दृष्टि से '**भ्रमन्ति**' क्रियापद का प्रयोग भी यहाँ वाग्योगात्मक ही है ।

ध्यान देने योग्य, और वाङ्मय-मनोरंजन की बात यहाँ यह है कि 'भ्रमण करना' इस वाच्यार्थ में जहाँ 'भ्रमन्ति' एक सामान्य क्रियापद है, वहीं भटकना लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ में यह पद 'वाग्योग' की उत्कृष्टता को प्राप्त कर लेता है।

प्रत्यादेश:

जब किसी क्रिया की प्रतिक्रिया बहुत ही उपयुक्त रूप में घटित होती है तो उसे पहली क्रिया का जवाब कहा जाता है। और, जब कोई व्यक्ति ऐसा करता है तो उसे 'मुंह तोड़ जवाब देने वाला' भी कह दिया जाता है। भास ने इसी प्रकार की एक अभिव्यक्ति अपने 'प्रतिमानाटकम्' नाटक में की है। देखिए :—

क्वासौ **प्रत्यादेशो** राजलुब्धाया कैकेयाः।	प्रतिमा० १०१	(जवाब होना)

प्रस्तुत वाक्य राम के प्रति भरत की उक्ति है। तात्पर्य है कि जिस राज्य के लिए कैकेयी ने राम को वनवास दिलवाया, उसी राज्य को राम ने कुछ भी नहीं समझा। इस प्रकार कैकेयी के आचरण का, राम ने **मुँह तोड़ जवाब** दिया। परिणाम स्वरूप कैकेयी को अत्यधिक ग्लानि का पात्र होना पड़ा। राम ने, आचरण में कैकेयी को **पीछे छोड़ दिया**, कैकेयी को **घटा दिया**।

अनुत्तर:

हिन्दी में 'बोलती बन्द करना' या 'बोलती बन्द होना' एक वाग्योग है, जिसका प्रयोग उस परिस्थिति में होता है, जब किसी बड़े, या किसी सम्मानित या किसी पूज्य व्यक्ति के सामने बोलना या उन्हें उत्तर देना अच्छा नहीं माना जाता है। भास ने भी इसी अभिप्राय को प्रकट करने वाले एक वाग्योग का प्रयोग किया है। देखिए :—

न्न्वनुत्तरा **वयं** ब्राह्मणेषु।	पञ्चरा० ९९	बोलती बन्द होना
हन्त, **अनुत्तरा वयम्**।	अभिषे० १७	या उत्तर न देना
हन्त, **अनुत्तरमभिहितम्**।	प्रतिमा० ११८	या जुबान न चलाना

इस प्रकार '**अनुत्तरम्**' का भी वाग्योगात्मक प्रयोग भास में देखने को मिलता है।

अनृण:

समाज में रहने वाले व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर एक-दूसरे से जो आर्थिक सहायता प्राप्त करते हैं, उसे 'ऋण' कहा जाता है। अनेक बार यह सहायता आर्थिक न होकर भावात्मक होती है। किन्तु, प्रचलित वाग्योग के आधार पर इसे भी 'ऋण ही कह दिया जाता है। ऋण लेने पर, उसे लौटा देने की क्रिया को उऋण होना' कहा जाता है। भास के नाटकों में 'उऋण' शब्द के स्थान पर 'अनृण' (अन्

+ ऋण) शब्द का प्रयोग मिलता है तथा वाग्योग के रूप में अनेक स्थलों पर भास ने इसका अपने नाटकों में प्रयोग किया है । यथा :—

अनृणः स **कारुण्यस्य** ।	अविमा० १२	करुणा से उऋण होना
अनृणोऽस्मि **यौवनस्य** ।	अविमा० १४	यौवन से उऋण होना
दशरथस्यानृण्यं कर्तुम् ।	प्रतिमा० १४६	दशरथ से उऋण होना
प्राप्ताऽऽ**नृण्या** बुद्धिः ।	स्वप्न० १०१	उऋण हुई बुद्धि

अनृण के साथ षष्ठी के प्रयोग से ज्ञात होता है कि भास की यह विशिष्ट शैली है, जिसके द्वारा वे एक निश्चित अभिप्राय को व्यक्त करते हैं । किसी कवि-विशेष की भाषा में आने वाले प्रयोग ही उसकी शैली की विशेषता होते हैं । अतः ये भी वाग्योग ही हैं ।

बद्धमूलम्

एक स्थान से उखाड़े हुए पेड़-पौधों को जब दूसरे स्थान पर लगाया जाता है, और वहाँ लगने पर उसमें नयी कोंपले फूटने लगती हैं, तो कहा जाता है कि पौधे ने **जड़ पकड़-ली** है । यह हिन्दी का वाग्योग है । हिन्दी में भावात्मक स्थल पर भी इस वाग्योग का प्रयोग मिलता है । भास ने भी एक स्थल पर इस का प्रयोग किया है । देखिए :—

दुःखं त्यक्तुं **बद्धमूलोऽनुरागः** ।	स्वप्न० १०१	(जड़ पकड़ना)

प्रस्तुत वाक्य में, अनुराग (प्रेम) के बद्धमूल होने (जड़ पकड़ने) की बात कही गयी है । संस्कृत के 'बद्धमूल' वाग्योग का ही अनुवाद हिन्दी का "जड़ पकड़ना" वाग्योग है ।

इससे ज्ञात होता है कि जिस प्रकार हिन्दी के कुछ वाग्योग, संस्कृत के वाग्योगों का रूपान्तरण मात्र है, उसी प्रकार कुछ वाग्योग हिन्दी में अनूदित हुए भी दृष्टिगोचर होते हैं ।

प्राप्तकालः

'मौके पर पहुँचना' या 'ठीक समय पर पहुँचना' भी हिन्दी का एक वाग्योग है । संस्कृत में, उसके लिए, भास ने 'प्राप्तकालः' वाग्योग का प्रयोग किया है । देखिए :—

अक्षयोऽस्तु मम **प्राप्तकालस्य** ।	कर्णभा० १४	(ठीक समय पर होना)
भवतु, अयं **प्राप्तकालः** ।	चारुद० ४५	,, ,,
अयमत्र **प्राप्तकालः** ।	चारुद० ६०	,, ,,
भवान् **कर्मकाले प्राप्तः** ।	दूतवा० ३७	,, ,,

प्रतीत होता है कि 'कर्मकाले प्राप्त' का ही समस्त रूप 'प्राप्तकाल:' है। अपने प्रथम नाटक 'दूतवाक्यम्' में भास ने 'कर्मकाले प्राप्त:' का ही प्रयोग किया है। किन्तु, बाद के नाटकों में 'प्राप्तकाल:' का प्रयोग है। ऐसा लगता है, जैसे घिस-घिसकर, ठोस बनकर 'कर्मकाले प्राप्त:' ही 'प्राप्तकाल:' बन गया है। निश्चय ही, वाग्योग की दृष्टि से 'कर्मकाले प्राप्त:' की अपेक्षा 'प्राप्तकाल:' ही अच्छा वाग्योग है।

नामशेषम्

'नामशेष होना' वाग्योग भी हिन्दी में बहुत प्रयुक्त होता है। भास ने भी इसका प्रयोग किया है। यथा :—

'शीघ्रं भवेत् कुरुकुलं नृप ! **नामशेषम्**। दूतवा० २३

जब कोई व्यक्ति या वस्तु अपने स्वरूप से तो नष्ट हो जाती है किन्तु उसकी स्मृति लोगों को बनी रहती है, तब 'नामशेष' वाग्योग का प्रयोग होता है। तात्पर्य होता है कि अमुक व्यक्ति या वस्तु को हमने देखा तो नहीं केवल उसका नाम ही सुनते-सुनाते हैं।

शरणागत:

पादमूलम्

भाषा में कुछ ऐसे मुहावरे या वाग्योग प्रचलित रहते हैं जिनकी मुहावरेदारी या वाग्योगात्मकता की ओर भाषा-भाषियों का भी ध्यान कभी जाता ही नहीं है। हिन्दी में 'शरण में आना' या 'शरण में जाना' या 'शरण लेना' ऐसा ही मुहावरा है। संस्कृत में **'शरणागत'** वाग्योग का प्रयोग इसी अर्थ में होता है। वस्तुत:, 'शरणागतोऽस्मि' यह वाक्य एक ऐसा विनम्रतापूर्ण वाक्य है, जिससे वक्ता, श्रोता के प्रति अपने पूर्णतया समर्पण को सूचित करना चाहता है। वह अभिव्यक्त करना चाहता है कि अब मैं अपनी इच्छा, स्वतन्त्रता और स्वेच्छाचारिता आदि को छोड़कर आपको अपने विषय में वह सब अधिकार दे रहा हूँ, जिसके अनुसार आप जिस रूप में भी चाहें, मेरा उपयोग कर सकते हैं। जैसे आप चाहेंगे मैं वैसे ही रहूँगा, जैसा आप कहेंगे, मैं वैसा ही करूँगा, आदि-आदि।

अब व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखें तो √शॄ (हिंसायाम्) धातु से यु (अन) प्रत्यय लगाने से व्युत्पन्न 'शरण' शब्द में उपर्युक्त अर्थ का आभास किसी भी प्रकार से नहीं होता है। तब, 'शरणागत' को वाग्योग के रूप में मान्यता देने से ही हम उपर्युक्त अर्थ की अभिव्यक्ति कर सकते हैं। भास ने भी अपने नाटकों में इस वाग्योग का प्रयोग किया है। यथा :—

'भगवन् ! अज्ञानादतिक्रान्तवान्, सान्त:पुर: **शरणागतोऽस्मि**।' बालच० ८०

बालचरितम्' नाटक में यह दामोदर (श्रीकृष्ण) के प्रति कालिय (नाग) की उक्ति है। दामोदर द्वारा पराजित होने पर ही कालिय नाग उनका शरणागत होता है और उसके पश्चात् उनकी आज्ञा के अनुसार ही कार्य करता है।

अन्यत्र भी, भास ने इस वाग्योग का प्रयोग किया है :—

किं वा प्रलप्य बहुधा **शरणागतोऽस्मि**। अविमा० ८२

उपर्युक्त अर्थ में ही कुछ अन्य वाग्योग भी, भास के नाटकों में प्रयुक्त हुए हैं। यथा :—

कुमारपादमूलमेव संश्रयावः। अभिषे० २५

महाराज**पादमूले** कुमारमन्तरेणानृतं नाभिधीयते। अभिषे० ९६

(द्रोणेन) (दुर्योधनस्य) **छत्रच्छाया** सेव्यते। पञ्चरा० २५

ब्राह्मणवचनम्

प्राचीन भारत में वर्णाश्रमव्यवस्था के कारण ब्राह्मणों को समाज में अत्यधिक महत्त्व दिया जाने लगा था। उसी महत्त्व को प्रकट करने वाला यह 'ब्राह्मणवचनम्' (ब्राह्मण वचन होना) वाग्योग है। भास ने 'बालचरितम्' नाटक में इसका प्रयोग किया है। देखिए :—

अथवा **ब्राह्मणवचनम**नृतमपि सत्यं पश्यामि। बालच० ४१

राजा कंस की यह उक्ति ब्राह्मण काञ्चुकीय के लिए है। काञ्चुकीय ने सूचना दी है कि कारागृह में देवकी ने पुत्री को जन्म दिया है। विश्वास न होने पर या विश्वास करना न चाहते हुए भी कंस को विश्वास करना पड़ता है, क्योंकि यह ब्राह्मणवचन है। वह कहता भी है यदि झूठ भी है तो भी ब्राह्मणवचन होने के कारण मैं इसे सत्य ही मान रहा हूँ।

उपर्युक्त 'ब्राह्मणवचनम्' वाग्योग से तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। इससे ज्ञात होता है कि वाग्योगों के अध्ययन से हमें अपने इतिहास को समझने में भी सहायता मिलती है। इस दृष्टि से किसी भी भाषा के वाग्योगों का अध्ययन बहुत ही उपयोगी होता है।

भास द्वारा प्रयुक्त एक अन्य वाग्योग है :—

स्वरसंयोगः। प्रतिमा० १०५, १११ (आवाज से जानना)

जब किसी व्यक्ति के स्वर से हम इतना परिचित होते हैं कि उसकी आवाज सुनते ही कह उठते हैं कि यह अमुक व्यक्ति है। तब इस वाग्योग का प्रयोग होता है।

'स्वरसंयोग' का व्याख्यात्मक अर्थ होगा—किसी स्वर को सुनकर, उसके साथ (संयोग) मिलान करने पर जिस व्यक्ति का, उस स्वर से सम्बन्ध मालूम पड़े,

वह स्वर-संयोग है। इस रूप में यह भी एक वाग्योग ही है। भास ने इसका प्रयोग इन स्थानों पर किया है :—

अम्मो, **स्वरयोगेन** भर्ता वसुदेव इति जानामि। बालच० १७

एष **स्वरसंयोगः**। प्रतिमा० १०५

अयं **स्वरसंयोगः**। प्रतिमा० १०५

स्वरसंयोगोऽपि स एव। प्रतिमा० १११

उपरि उद्धृत सभी स्थलों पर 'स्वरयोग' या स्वरसंयोग' वाग्योग के ही रूप में प्रयुक्त हुआ है।

—:०:—

पदसमूहात्मक वाग्योग

मित्रमुखः शत्रुः

संस्कृत भाषा में 'विषकुम्भं पयोमुखम्' वाग्योग का प्रयोग ऐसे व्यक्ति के लिए होता है जिसके हृदय में तो शत्रुता का भाव होता है, किन्तु मुख से बातें वह मित्रता की करता है। हिन्दी में ऐसे व्यक्ति के व्यवहार को दृष्टि में रखकर 'मुँह में राम बगल में छुरी' वाग्योग का प्रयोग किया जाता है। भास ने ऐसे ही एक वाग्योग का प्रयोग अपने एक नाटक में इस प्रकार किया है :—

मित्रमुखस्य शत्रोः शकुनेर्वचनं न श्रोतव्यम्। पञ्चरा० ३०

अर्थात् जो व्यक्ति **मित्रमुखः शत्रुः** है (मित्र के मुख वाला शत्रु है), अर्थात् मुख से मित्र बनता है और हृदय से शत्रु है, उस शकुनि की बात नहीं माननी चाहिए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यहाँ भास ने संस्कृत में **'मित्रमुखः शत्रुः'** का प्रयोग वाग्योग के रूप में ही किया है। क्योंकि वाच्यार्थ से अधिक जिस तात्पर्य की व्यंजना यहाँ हो रही है, वह वाग्योग के ही कारण है।

मार्गजाता लता

अपनी विशिष्टता को खोकर जो व्यक्ति या वस्तु सभी के द्वारा सामान्यतया उपभोग की जा सकती है, उसके लिए हिन्दी में **'चौराहे का हुक्का होना'** वाग्योग का प्रयोग देखा जाता है। चौराहे का हुक्का, सभी के लिए समान रूप से उपलब्ध होता है, जो भी आये, दम लगाकर चलता बने अवमानना के पात्र के लिए 'रास्ते

की धूल' भी कह दिया जाता है, जिसे सभी रौंदते हुए चलते हैं। भास ने इस तात्पर्य के लिए **'मार्गजाता लता'** वाग्योग का प्रयोग 'गणिका वसन्तसेना के लिए किया है। मूल उद्धरण इस प्रकार है :—

'विगणय गणिका त्वं **मार्गजाता लतेव**। चारुद० २८

'चारुदत्तभ्' नाटक में वसन्तसेना के प्रति यह लम्पट विट की चाटूक्ति है। तात्पर्य है कि मार्ग में उत्पन्न लता को जैसे सभी छू सकते हैं, उसके पल्लवों और पुष्पों का उपभोग कर सकते हैं ऐसे ही वसन्तसेना भी सभी के उपभोग के लिए है।

स्वदेहमिव प्रवेष्टुकामा

भय और लज्जा आदि के कारण, जब व्यक्ति अपने अंगों को समेट कर इस अवस्था में आ जाता है कि अपने वास्तविक आकार से भी लघु दिखलाई देने लगे, तब इस वाग्योग का प्रयोग होता है। भास ने अपने 'अभिषेकनाटकम्' में इसका प्रयोग इस प्रकार किया है :—

"एषा सीता पादपमूलमाश्रित्य ध्यानसंवीतहृदयानशनक्षामवदना **स्वदेहमिव प्रवेष्टुकामा**······उपविष्टा।" अभिषे० ३३

यह सीता के प्रति रावण की उक्ति है। निश्चय ही, **स्वदेहं प्रवेष्टुकामा** वाग्योग के द्वारा अपनी ही देह में सिमटती हुई सीता का चित्र हमारे सम्मुख साकार हो उठता है।

शोभनं नक्षत्रम्

सामान्य दिनचर्या से हटकर जब हम कोई विशेष या महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं तो उसकी सफलता के लिए हम पहले से ही निश्चित होना चाहते हैं। अतः, किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य को करने से पूर्व हम शुभ मुहूर्त निकलवाने का प्रयास करते हैं। जिसका निर्णय करने के लिए ज्योतिषी लोग नक्षत्र आदि का विचार करते हैं। अतः संस्कृत में **'शोभनं नक्षत्रम्'** वाग्योग से तात्पर्य है किसी विशेष कार्य को करने का अच्छा या मांगलिक समय। भास ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। देखिए :—

अद्यैव किल **शोभनं नक्षत्रम्**। स्वप्न० ६१

'स्वप्नवासवदत्तम्' नाटक में 'पद्मावती के विवाह के प्रसंग में इस वाग्योग का प्रयोग हुआ है। तात्पर्य है कि आज ही विवाह सम्पन्न करने के लिए अच्छा समय है।

केवलो मानुषः

सामान्य पुरुष के लिए हिन्दी में 'मामूली आदमी' वाग्योग का प्रयोग होता है। तात्पर्य होता है कि ऐसा आदमी, जिसमें एक भी ऐसा गुण नहीं है, जिसके

कारण उसके मस्तिष्क की ओर किसी का ध्यान जा सके। इसी से बना 'मामूली आदमी न होना' मुहावरा है, जिसका तात्पर्य है, ऐसा आदमी होना, जिसकी अवहेलना की जा सके। बरबस ऐसा व्यक्ति लोगों का ध्यान अपनी ओर खींच लेता है। 'मामूली आदमी होना' वाग्योग का तुलना में 'मामूली आदमी न होना' वाग्योग अधिक वजन रखता है, उसमें अधिक अर्थ गाम्भीर्य है।

संस्कृत में भी, भास ने एक ऐसे ही वाग्योग का प्रयोग अपने नाटकों में किया है। यथा :—

अहं पुनर्जानामि **नैष केवलो मानुषः।**	अविमा० ३८	मामूली आदमी न होना
दैवादुत्पादितोऽयं **केवलो मानुषो न भवतीति।**	अविमा० १५६	,, ,,

इन वाग्योगों का प्रयोग जिस प्रसंग में और जिस पुरुष के लिए किया गया है, वह निश्चय ही कुछ असाधारण गुणों वाला है। उस दृष्टि से, निश्चय ही यह बहुत ही सार्थक वाग्योग है।

एक अन्य वाग्योग में, एक बहुत ही विशिष्ट राजा के लिए एक अन्य वाग्योग का प्रयोग भास ने इस प्रकार किया है :—

लोके किलैको वसुधाधिपेन्द्रः।	उरुभ० ४१	(दुनियाँ में) एक ही होना

वस्तुतः, वसुधाधिपेन्द्र तो और भी है, किन्तु यहाँ कवि का तात्पर्य एक विशेष व्यक्ति को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देने के लिए ही **'लोके किलैकः'** वाग्योग का प्रयोग हुआ है।

—:०:—

वाक्यात्मक वाग्योग

एतावान् मे विभव:

'वश में होना', 'वश की बात होना' या 'औकात होना'—जैसे वाग्योगों का प्रयोग हिन्दी में खूब होता है। अपनी सामर्थ्य भर प्रयास करने के उपरान्त, प्रत्येक व्यक्ति कह देता है कि बस, **अपनी तो इतनी ही औकात थी, अपने वश में तो बस इतना ही था**—आदि-आदि। भास ने भी इस प्रकार की अभिव्यक्ति अपने एक पात्र से करायी है। यथा :—

चेट:—···ततोऽज्जुके ! केनापि कुलपुत्रेणोचितान्याभरणस्थानि विलोक्याङ्गुष्ठेनानीयापि पुनरलब्धं प्रेक्ष्य दैवमुपालभ्य दीर्घं नि:श्वस्य**ैतावान् मे विभव** इति कृत्वा परिजनहस्तेऽयं प्रावारक: प्रेषित:। चारुद० ७०

चारुदत्तम् नाटक के उपर्युक्त पूरे कथन को पढ़-सुनकर प्रतीत होता है कि देने वाला व्यक्ति चारुदत्त बहुत देने की इच्छा होने पर भी चेट को केवल एक प्रावारक (दुःशाला) ही दे पाता है और '**एतावान् मे विभव:**' (मेरी औकात इतनी ही है) वाग्योग के द्वारा अपनी विवशता को व्यक्त करके ही सन्तोष कर लेता है।

नास्ति वाचा प्रयोजनम् (कहने की आवश्यकता न होना)

जहाँ अन्य प्रकार से अर्थात् चेष्टा या मुख विकार आदि से ही व्यक्ति के मन का भाव प्रकट हो रहा हो, वहाँ मुख से कहकर, अर्थात् शब्दों के प्रयोग द्वारा उसे प्रकट करना उपयुक्त नहीं माना जाता। भाषा वहाँ या तो अपर्याप्त रहती है या फिर उसकी आवश्यकता ही नहीं होती है। वस्तुत: आनन्द (रस) के अनुभव के समय व्यक्ति की ऐसी दशा होती है। भास ने 'प्रतिमानाटकम्' में, सीता के सौन्दर्य पर मुग्ध हुई चेटी के मुख से इस वाग्योग का प्रयोग कराया है। जो बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होता है। देखिए :—

चेटी—**नास्ति वाचा प्रयोजनम्**। इमानि प्रहर्षितानि तनूरुहाणि मन्त्रयन्ते। १०/३। 'प्रहर्षितानि तनूरुहाणि' एवं 'तनूरुहाणि मन्त्रयन्ते' भी वाग्योग ही है।

नास्मि···

प्रतिद्वन्द्विता या प्रतिस्पर्द्धा में अपनी विजय के लिए आश्वस्त होकर आत्म-विश्वासी व्यक्ति प्राय: कह दिया करता है कि यदि मैंने सफलता न प्राप्त की तो 'मेरा अमुक नाम नहीं', या मैं अमुक नहीं।' भास के नाटकों में भी यह वाग्योग एकाधिक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ दिखलाई देता है। यथा :—

मोचयामि न राजानं **नास्मि**
यौगन्धरायण:। प्रतिज्ञा० ३८ (मैं यौगन्धरायण नहीं)

यदि तां न हरेद् राजा **नास्मि**
यौगन्धरायणः। प्रतिज्ञा० ६८ (मैं यौगन्धरायण नहीं)

नाहरामि नृपं चैव **नास्मि**
यौगन्धरायणः। प्रतिज्ञा० ६९ " "

उपर्युक्त स्थलों पर 'नास्मि यौगन्धरायणः (मैं यौगन्धरायण नहीं हूँ) या मेरा नाम यौगन्धरायण नहीं) वाग्योग का प्रयोग तीन स्थलों पर ठीक उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार किसी भी बहुप्रचलित वाग्योग का हुआ करता है। वक्ता के विश्वास और इच्छा शक्ति को अभिव्यक्त करना ही यहाँ इस वाग्योग का तात्पर्य है। इससे अभिव्यक्त होता है कि कहने वाला व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा को दाँव पर लगा रहा है, अतः उसके कथन की सत्यता पर विश्वास करना ही चाहिए।

नाम्ना…भू

'नाम से ही काम होना' वाग्योग से तात्पर्य है किसी व्यक्ति का अत्यधिक प्रभावशाली होना। ऐसे व्यक्ति का नाम ले देने मात्र से ही कोई काम हो जाता है। उस व्यक्ति को स्वयं कार्यस्थल पर जाने की या रहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। भास ने भी इस वाग्योग का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थः—

नाम्नैव भवतो राज्यं कृतरक्षं भविष्यति। प्रतिमा० ११५

'प्रतिमानाटकम्' में राम के प्रति यह भरत की उक्ति है। भरत का तात्पर्य है कि राज्य की रक्षा करने के लिए मुझे अयोध्या जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि राज्य की रक्षा का काम तो आपके नाम से ही हो जायेगा।

ऐसे वाग्योगो पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के अनेक वाग्योग, संस्कृत-वाग्योगों का ही रूपान्तर है। अर्थात् हिन्दी का 'नाम से ही काम होना' वाग्योग संस्कृत के 'नाम्नैव कार्यं भवति' वाग्योग का ही रूपान्तर है।

अभ्युदयादभ्युदय :

एक सफलता के बाद ही दूसरी सफलता मिलने पर हिन्दी में 'अच्छे पर अच्छा होना' मुहावरे का प्रयोग किया जाता है।

भास ने भी अपने 'अविमारकम्' नाटक में ऐसी ही एक अभिव्यक्ति की है। देखिए:—

सखे ! प्रीतोऽस्मि।
अयमभ्युदयादभ्युदयः।
अविमा० १०९ (एक अच्छाई के बाद दूसरी अच्छाई)

दिव्य प्रभाववाली अँगूठी देने वाले विद्याधर के प्रति यह नायक अविमारक की उक्ति है। पहले तो 'आत्महत्या' करने से बच गया, उस पर कुरङ्गी के महल में

जाना भी सरल हो गया। इस प्रकार एक उपलब्धि के बाद दूसरी उपलब्धि हुई है।

देवतानां दैवतम्

माता-पिता को अधिक महत्त्व देने के लिए प्रायः ही उन्हें 'देवताओं का भी देवता' या 'सबसे बड़ा देवता' बोलचाल में कहा जाता है। भास में भी ऐसे वाग्योग मिलते हैं। देखिए :—

माता किल मनुष्याणां
देवतानाञ्च दैवतम्। मध्यम० ३१

यहाँ माता को देवताओं का देवता कहना 'वाग्योग' के ही रूप में है।

इसी प्रकार किसी पूज्य पुरुष के लिए :—

तमहं द्रष्टुमिच्छामि
दैवतं परमं मम। प्रतिमा० १०२

यहाँ 'परम देवता होना' भी वाग्योग है।

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर केवल 'देवता होना' वाग्योग का ही प्रयोग हुआ है। यथा :—

दैवतं खल्वस्माकम्। मध्यम० ४३

यहाँ मध्यमव्यायोग नाटक में, हिडिम्बा ने भीम के लिए इस वाग्योग का प्रयोग किया है।

पुत्रा अपुत्राः क्रियन्ते
माताऽप्यमाताऽस्तु

परिवार में माता-पिता और पुत्र-पुत्री परस्पर अपनत्व के बन्धन में बँधें होते हैं। उनके व्यवहार से सदैव अपनत्व की अभिव्यक्ति होती रहती है। किन्तु, कभी-कभी, कारणविशेष से जब पुत्र अपने पुत्रत्व का और माता अपने मातृत्व का पालन नहीं कर पाती तो उन्हें क्रमशः 'अपुत्र' और 'अमाता' कह दिया जाता है। भास ने, अपने नाटकों में इन दोनों ही शब्दों का वाग्योगात्मक प्रयोग किया है यथा :—

"**पुत्रास्तावन्नन्वपुत्राः क्रियन्ते।**

प्रतिमा० ९३. (पुत्र का अपुत्र होना)

तथा भर्तृद्रोहादस्तु **माताऽप्यमाता।**

प्रतिमा० ९३. (माता का अमाता होना)

तात्पर्य है, कि पुत्र होते हुए भी उनके साथ अपुत्रों-जैसा व्यवहार किया जा रहा है तथा माता होते हुए भी, उसकी मान्यता माता के रूप में नहीं रहती।

भवितव्यतार्थस्य प्राबल्यम्—अविमा० १५१

'होनहार का बलवान् होना'—इस वाग्योग का प्रयोग भास ने, अपने 'अविमारकम्' नाटक में किया है।

अन्यादृशः संवृत्तः

व्यवहार में, जब कोई व्यक्ति वैसा व्यवहार नहीं करता है, जैसा कि उसने पहले किया था, तो कह दिया जाता है कि वह अब 'बदल गया है' इस रूप में 'बदल जाना' हिन्दी का बहुप्रचलित मुहावरा है।

भास ने अपने 'अविमारकम्' नाटक में तीन स्थलों पर इस वाग्योग का प्रयोग किया है। यथाः—

यदा प्रभृति कुरङ्गी दृष्टा
तदा प्रभृत्यन्यादृश **इव संवृत्तः**
(अविमारकः)। अविमा० २७

सोऽपि तावदस्माकमधन्यतया
अन्यादृश इव संवृत्तः। अविमा० ४७

हला ! मैवं भण, भर्तृदारिका-
मन्तरेण। **अन्यादृशानि भवन्ति।** अविमा० ५७.

उपर्युक्त तीनों ही स्थलों पर, व्यवहार की दृष्टि से व्यक्ति के 'और-सा हो जाने', 'भिन्न-सा हो जाने' अथवा 'बदल जाने' की बात कही गयी है।

प्रयोग के आधार पर लिङ्ग और वचन आदि के भेद से इस 'वाग्योग' का प्रयोग अनेक रूपों में हो सकता है।

अन्यथाकृतम्
अन्यत् प्रस्तुतमन्यदापतितम्

'उल्टा काम करना', 'उल्टी बात' होना अथवा 'कुछ का कुछ होना' आदि मुहावरों का प्रयोग हिन्दी में खूब होता है।

भास ने, इसी प्रकार की अभिव्यक्तियों के लिए उपर्युक्त वाग्योगों का प्रयोग किया है। यथा :—

कैकेय्या हि तद**न्यथाकृतम**हो
निःशेष**मेकक्षणे।** प्रतिमा० ६४.

अन्यत् प्रस्तुतमन्यदापतितम्। पञ्चरा० ३२.

प्रथम स्थल पर 'अन्यथाकृतम्' से तात्पर्य है कि जो मन में सोचा हुआ था, अथवा जो होना चाहिए था, उसको वैसा नहीं होने दिया। इसी उद्धहरण में 'एकक्षणे' भी वाग्योग के रूप में प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य है-पल भर में ही सब कुछ बदल दिया।

द्वितीय उद्धरण, एक सामान्य वाग्योग है। 'कुछ होना था और कुछ और हो गया।' 'अन्यत्' शब्द की व्यञ्जना के कारण ही यह वाग्योग बना है।

चम्पकारामे पिचुमन्दा जायन्ते। चारुद० १०४

अर्थात् 'अच्छे पदार्थों के बीच में बुरे पदार्थों का होना। जब जिसको जहाँ नहीं होना चाहिये, तब उसके वहाँ होने पर, 'बेमेल होना'-जैसे इस वाग्योग का प्रयोग होता है।

ऊषरेष्वपि सस्यं स्यात्। पञ्चरा० ४०.

अर्थात ऊषर में भी धान्य का पैदा होना। तात्पर्य है, उस काम का भी हो जाना, जिसके होने की कोई सम्भावना नहीं होती।

पिपासार्तस्य क्षीणतोयां नदीमनु-
धावनम्। प्रतिमा० ८४

नदी पर लोग पानी लेने के लिए जाते हैं। इसलिए सूखी नदी की ओर दौड़ना, जैसे व्यर्थ होता है या अविवेकपूर्ण होना है वैसा ही कोई काम करना।

बुभुक्षया ओदनमिव जीवलोकं
पश्यामि। चारुद० ३.

अर्थात 'भूखे को संसार भात-जैसा दिखना'। तात्पर्य है, जो स्वार्थी व्यक्ति होता है, उसे प्रत्येक वस्तु अपने उपभोग की प्रतीत होती है।

छायां परिहृत्य शरीरं लङ्घनम्

अर्थात् छोटे अपराध को बचाकर बड़ा अपराध करना। भास ने प्रतिमानाटकम्, नाटक में, रावण की इस उक्ति में उपर्युक्त वाग्योग का प्रयोग किया है :—

रावणः—**अयि छायां परिहृत्य शरीरं न लङ्घयामि।** प्रतिमा १३४.

रावण का तात्पर्य है कि सीता की सेवा से स्वयं को बचाकर अब राम से अपनी सेवा कराना तो और भी बड़ा अपराध होगा।

—:०:—

सूक्तियों में प्रयुक्त वाग्योग

भास के नाटकों में ऐसी अनेक सुन्दर सूक्तियाँ हैं, जिनमें वाग्योगों का भी प्रयोग हुआ है। यथा :—

क: शक्तः **सूर्यं हस्तेनाच्छादयितुम्** । अविमा० १४

कार्य के असम्भव होने की अभिव्यक्ति के लिए भास ने उपर्युक्त सूक्ति का प्रयोग किया है। यहाँ **हस्तेन सूर्यमाच्छादनम्** वाग्योग प्रयुक्त है। इस वाग्योग के कारण ही इस सूक्ति का सौन्दर्य है।

इसी अभिप्राय के लिए, कुछ अन्य सूक्तियाँ भी, भास की रचनाओं में उपलब्ध होती हैं। यथा :—

हास्योऽसि भोः, **पातुं** य इच्छसि
कराञ्जलिना समुद्रम् । बालच० ३४

अर्थात् यह कार्य उतना ही असम्भव है, जितना कि **अञ्जलि से समुद्र को** पीना'।

क: शक्नोत्य**युच्छिष्टमकुर्वन् भोक्तुम्** । अविमा० १२६

यहाँ भी असम्भव कार्य करने के ही सम्बन्ध में कहा गया है। अर्थात् 'बिना झूठा किये खाना' जैसे नहीं हो सकता, वैसे ही कोई असम्भव काम भी नहीं हो सकता।

रज्जुच्छेदे के **घटं** धारयन्ति । स्वप्न० १५२

यहाँ **'रज्जुच्छेदे घटं धारणम्'** अर्थात् 'रस्सी टूटने पर घड़ा पकड़ना' वाग्योग का प्रयोग हुआ है।

अजीर्णं भवति ।

अर्थात् 'हानि होना' भास ने अधोलिखित सूक्ति में इसका प्रयोग किया है:—

मधुरमि बहुखादित**मजीर्णं भवति** । चारुद० ७५

अस्थिभक्षणम् ।

'गुठली खाना'—वाग्योग का प्रयोग तब होता है, जब कोई न खाने योग्य पदार्थ को भी खाना चाहता है। भास ने इसका प्रयोग अधोलिखित सूक्ति में किया है :—

अधिकमधुरस्याम्रस्य अयोग्यतया
अस्थि न भक्ष्यते । चारुद० ७५

अर्थात् आम यदि बहुत मीठा है, तो भी उसकी गुठली तो नहीं खायी जाती। आजकल बोलचाल में 'मांस खाकर हड्डी गले में बाँधना'—जैसा प्रयोग व्यवहार में देखा जाता है। काल के प्रभाव से इतना परिवर्तन स्वाभाविक ही लगता है।

शत्रुमपि सुहृत्वे कल्पनम्।

'शत्रु को मित्र बनाना' कोई भी नहीं चाहता। किन्तु कभी-कभी, ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाती है कि मनुष्य को विवश होकर शत्रु को भी मित्र बनाना पड़ जाता है। भास ने एक सूक्ति में ऐसी ही अभिव्यक्ति की है। यथा :—

अवस्था खलु नाम **शत्रुमपि सुहृत्वे**
कल्पयति। प्रतिज्ञा० २८

विक्रीतभाण्डक इव सुखं शयनम्।

यहाँ भास ने 'घोड़े बेचकर सोना', हिन्दी के इस मुहावरे के समान भाव को ही व्यक्त किया है। 'चारुदत्तम्' नाटक में यह विदूषक की उक्ति है।

औषधमुपलभ्य मन्दी भू।

अर्थात् अभिलषित वस्तु को लेने में शिथिल होना। भास ने प्रस्तुत सूक्ति में इसका उपयोग किया है :—

कस्ताव**दौषधमुपलभ्य मन्दीभव**त्यातुरः। अविमा० ४४

तात्पर्य है कि अभिलषित वस्तु को प्राप्त करने पर तो सभी का उत्साह बढ़ जाता है। वैसे ही जैसे रुग्ण व्यक्ति औषध पाकर स्वस्थ और उत्साही हो जाता है।

सौन्दर्य का वर्णन करना भी कोई सरल बात नहीं है। विभिन्न कवियों ने विभिन्न प्रकार से सौन्दर्य का वर्णन किया है। कालिदास ने, शकुन्तला को 'मधुराकृतिः' कहा है। शकुन्तला और उसकी सखियाँ भी उन्हें 'मधुर' दृष्टिगोचर होती हैं। 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।' कालिदास की लोकप्रसिद्ध सूक्ति है।

भास ने भी 'प्रतिमानाटकम्' में सीता के सौन्दर्य का और 'अविमारकम्' में नायिका कुरङ्गी के सौन्दर्य का वर्णन किया है। देखिए :—

सर्वशोभनीयं सुरूपं नाम।	प्रतिमा० १२	(सब कुछ शोभा देना)
सर्वमलङ्कारो भवति सुरूपाणाम्।	अविमा० ४७	(सब कुछ शोभा देना)
आकृतिरेवालङ्कारः।	अविमा० ८६	(आकृति ही अलंकार होना)
स्वभावरमणीयानि मण्डितानि अतिरमणीयानि भवन्ति।	अविमा० ८६	(सहज सुन्दर होना)

उपर्युक्त उद्धरणों में अधोलिखित चार वाग्योगों का प्रयोग बहुत ही स्वाभाविक रूप में हुआ है :—

सर्वशोभनीयम् ।
सर्वमलङ्कारः ।
स्वभावरमणीयम् ।
आकृतिरेवालङ्कारः ।

—:०:—

अभ्यस्त प्रयोगरूप वाग्योग

'वाग्योग' का लक्षण करते समय हमने ऐसे अभ्यस्त प्रयोगों को भी 'वाग्योग' माना है, जिनका प्रयोग भाषा में, विशेषतः सम्वादों में, प्रायः होता है। भाषा में बहुप्रयुक्त होना ही इनके वाग्योग होने का कारण है। अपने अभिप्राय में ये इतने रूढ़ हो गये हैं कि न तो वक्ता ही इन पर विचार करता है और न श्रोता ही। अतः, इनकी विवेचना की भी कोई आवश्यकता हम अनुभव नहीं करते। यहाँ, भास के नाटकों में प्रयुक्त होने वाले ऐसे वाग्योगों की एक सूची दे देना ही पर्याप्त है। अकारादि क्रम से ये वाग्योग इस प्रकार हैं :—

अथकिम्	(हाँ में हाँ मिलाने के लिए)
अत्याहितम्	(अनुचित कार्य होने पर)
अब्रह्मण्यम्	(धर्म की दृष्टि से अनुचित कार्य होने पर)
अलम् (—अतिसाहसेन, अतिस्नेहेन, औदासीन्येन, परिश्रमेण, भयेन, विषादेन, सम्भ्रमेण आदि शब्दों के साथ प्रयुक्त हुआ है)	(मना करने के लिए)
आम्	(स्वीकृति के लिए)
आश्चर्यम्-आश्चर्यम्	(आश्चर्य प्रकट करने के लिए)
इत इतः	(मार्ग बतलाने के लिए)
उत्सरतोत्सरत	(दूर हटाने के लिए)
एतु, एतु	(आइये, आइये अर्थ में)
एवमस्तु	(समर्थन के लिए)

कथम्-कथम्	(प्रश्न में)
कथय, कथय,	(आग्रहपूर्वक पूछने में)
कष्टं भोः (भो कष्टम्)	(दुःख प्रकट करने में)
किम्	(कोई लाभ न होने में)
(—उक्तेन, बहुना, भाषितेन आदि शब्दों के साथ प्रयुक्त हुआ है)	
जयतु-जयतु	(जय जयकार करने में)
ततस्ततः	(आगे की बात पूछने के लिए)
दिष्टया	(बधाई देने के लिए)
(—वर्धते, विजयते आदि के साथ प्रयुक्त हुआ है)	
दृढं विज्ञातम्	(अच्छी प्रकार जानना अर्थ में)
न, न, न,	(निषेध के लिए)
(—गन्तव्यम्, भेतव्यम् आदि शब्दों के साथ प्रयुक्त हुआ है)	
निवेद्यताम्, निवेद्यताम्	(सूचना के लिए)
परित्रायताम्-परित्रायताम्	(दुहाई मांगने में)
प्रसीदतु-प्रसीदतु.	(प्रसन्न करने के लिए)
बाढम्	(स्वीकृति में)
ब्रूहि-ब्रूहि	(आग्रहपूर्वक पूछने में)
भणतु, भणतु,	(" ")
भवतु	(स्वीकृति में)
(—दृष्टम्, ज्ञातम् आदि शब्दों के साथ प्रयुक्त हुआ है)	
मद्वाक्यात् (मद्वचनात्)	('मेरी ओर से'–अर्थ में)
मर्षयतु, मर्षयतु,	(क्षमा मांगने में)
मा खलु-मा खलु	(निषेध में, मना करने में)
मा मैवम्,	(निषेध में)
मा विभीहि, मा विभीहि,	(निर्भय करने में)
शान्तिर्भवतु,	(शान्ति की कामना में)
हा धिक्	(धिक्कारने में)

उपर्युक्त सभी वाग्योगों का प्रयोग प्रायः उत्तर-प्रत्युत्तर में, सम्वादों में या सम्भाषण में ही होता है।

अधिकांश वाग्योगों के प्रयोग में, एक ही वाग्योग को दो बार और कभी-कभी तीन बार भी दोहराया जाता है।

अथकिम्, किंबहुना, बाढम्, अलम् एवं दिष्ट्या आदि कुछ वाग्योगों का प्रयोग, एक ही रचना में अथवा एक ही व्यक्ति के द्वारा पुनः पुनः हुआ है।

—:०:—

कुछ विकीर्ण वाग्योग

अन्त में, हम यहाँ कुछ ऐसे वाग्योग प्रस्तुत कर रहे हैं, जो प्रबन्ध के पूर्व भागों में सम्मिलित होने से रह गये हैं। उद्भव, अर्थ एवं रूपरचना की दृष्टि से, इनका वर्गीकरण, अब पाठकों के लिए कठिन नहीं होगा, ऐसा हमें विश्वास है। महत्त्वक्रम की दृष्टि से ये वाग्योग इस प्रकार हैं :—

महद् **बाणवर्षं सृजन्तम्**।	अभिषे० १११	बाण वर्षा करना
रामं प्रत्यैषवं **वर्षमभिवर्षति** रावणः।	अभिषे० १०८	बाण वर्षा करना
स्रवति धनुरुग्रां **शरनदीम्**।	पञ्चरा० ७४	शरनदी बहाना

उपर्युक्त तीनों ही स्थलों पर योद्धा-विशेष के द्वारा तीव्र बाण चलाने की वाग्योगात्मक अभिव्यक्ति, भास ने की है।

प्रथम दो उद्धरणों में **'बाणवर्षम्'** वाग्योग का ही प्रयोग शब्दान्तर से हुआ है। तीसरे उद्धरण में **'शरनदी स्रवति'** भी बहुत ही सुन्दर वाग्योग है।

आर्य, अलमिदानीं **व्रणे प्रहर्तुम्**।	प्रतिमा० ११६	घाव पर चोट करना।
नानाफलाः शोकशर**ाभिघातास्** **तत्रैव तत्रैव पुनः पतन्ति**।	प्रतिमा०	चोट पर चोट लगना

'चोट पर चोट लगना' अथवा 'घाव पर चोट लगना'—हिन्दी में बहुप्रयुक्त वाग्योग है। उसी से मिलती-जुलती, अभिव्यक्ति, भास ने उपर्युक्त स्थलों पर **'व्रणे प्रहरणम्'** एवं **'अभिघातेषु तत्रैव तत्रैव पुनः पतनम्'** वाग्योगों द्वारा की है।

वयस्य, **काष्ठभूतं कलेवरं** त्यज्यताम्। बालच० १९

मृत्यु हो जाने पर शरीर अकड़कर लकड़ी-सा हो जाता है। इसी आधार पर 'मृत्यु हुए देर हो गयी है' कहने के स्थान पर 'शरीर लकड़ी हो गया है'—ऐसा ही वाग्व्यवहार है। भास ने, बालचरितम् नाटक में, वसुदेव की पुत्री के मृत शरीर के प्रसंग में **'काष्ठभूतं कलेवरम्'** वाग्योग का प्रयोग किया है।

न भयमभिमन्युर्**गणयति** ।	पञ्चरा० ७६	कुछ न समझना
क्रीडामयूरमिव **शत्रुमचिन्तयित्वा** ।	प्रतिमा० १५०	"

उपर्युक्त दोनों ही उद्धरणों में, भास ने पात्रविशेष की वीरता की अभिव्यक्ति की है। शत्रु से होने वाले भय को कुछ न समझना अथवा स्वयं शत्रु की ही परवाह न करना, ऐसा स्वभाव किसी वीर पुरुष का ही हो सकता है।

निष्फलं कृ

निष्फलतां गम्

उपर्युक्त दोनों वाग्योगों का प्रयोग भास के अधोलिखित उद्धरणों में मिलता है :—

श्रममिह तव **निष्फलं च कृत्वा** ।	अभिषे० ११८	निष्फल करना
असत्पुरुषसेवेव **दृष्टिर्निष्फलतां गता** ।	बालच० १२	निष्फल होना
असत्पुरुषसेवेव **दृष्टिर्निष्फलतां गता** ।	चारुद० ३१	"

द्वितीय वाग्योग का प्रयोग दो रचनाओं में होना, इस वाग्योग के बहुप्रयोग को सूचित करता है।

वल्कलं ग्रह

सन्यास लेने पर, व्यक्ति गेरुवे वस्त्र पहनने लगता है। प्रतीत होता है कि यह परम्परा, भास के बाद के काल में कभी प्रचलित हुई होगी। भास के समय तक संन्यास ग्रहण करने के लिए या संसार से विरक्त होने की सूचना के लिए व्यक्ति वल्कल धारण किया करता था।

भास के 'पञ्चरात्रम्' नाटक में यह कर्ण की उक्ति है। कर्ण कहता है कि यदि युद्ध के अवसर पर वीरता नहीं दिखाई जाती, है तब तो धनुष छोड़कर, हमें वल्कल धारण कर लेना चाहिए। तात्पर्य है कि दुनियाँदारी छोड़कर विरक्त हो जाना चाहिए। मूल उद्धरण इस प्रकार है :—

गृह्यतां धनुरपनीय **वल्कलानि** ।	पञ्चरात्र ११३.	वल्कल धारना

'धनुरपनीय' भी यहाँ, वाग्योग के रूप में ही प्रयुक्त है। तात्पर्य है—वीरता को छोड़ना। व्यंग्यार्थ होने से यह सुन्दर वाग्योग है। इसके विलोमार्थक 'धनुः स्पृश्' वाग्योग का विवेचन प्रबन्ध के पूर्वभाग में हुआ है।

मुखोदकम्

संस्कृत में, मुखोदकम्, 'पादोदकम्' आदि प्रयोग वाग्योग-जैसे ही हैं, क्योंकि 'मुखोदकम्' से तात्पर्य है, 'रोने वाले व्यक्ति के अश्रुमलिन मुख को धोने वाला जल होना'। इस तात्पर्य की अभिव्यक्ति 'मुख' और 'उदक' शब्दों से संभव नहीं है, जब तक रूढ़ि के रूप में यह प्रयोग न हो। अनुमान होता है कि आजकल रोते हुए व्यक्ति

को जैसे चुप कराने की परम्परा है, वैसे ही प्राचीन काल में, प्रियजन को चुप करने के लिए लोग, पानी लाकर मुख धुलवाते रहे होंगे। एक बार मुख धो लेने पर व्यक्ति फिर नहीं रोता होगा, क्योंकि अश्रु आ जाने से मुख के मलिन या अपवित्र होने की आशंका होती थी।

भास ने अपने नाटकों में तीन स्थलों पर 'मुखोदक' वाग्योग का प्रयोग किया है। यथा :—

यद्येवं, न तदभिषेकोदं, **मुखोदकं** नाम।	प्रतिमा० १७.
अश्रुपातक्लिन्नं खलु तत्रभवतो मुखम्।	
यावन्मुखोदकमानयामि।	स्वप्न० १०१
तद्गृह्णातु भवतीदं **मुखोदकम्**।	स्वप्न० १०३

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि सभी स्थलों पर रोने के प्रसंग में ही 'मुखोदकम्' वाग्योग का प्रयोग, संस्कृत में हुआ है। अन्य प्रसंगों में, इसका प्रयोग न होना है, इसकी विलक्षणता है। उसी के कारण यह 'वाग्योग' बना है।

दत्ता

विवाह के प्रसंग में, कन्या के लिए 'दत्ता' शब्द का प्रयोग, भास ने अपने नाटकों में चार बार किया है। केवल 'दत्ता' शब्द के वाच्यार्थ से, वह तात्पर्य बहुत भिन्न है, जो कि इसके वाग्योग रूप से ज्ञात होता है। मूल उद्धरण इस प्रकार हैं :—

दत्ता सा विधिना पूर्वम्।	अविमा० १६२	दी हुई होना
जयतु भर्तृदारिके, **दत्तासि**।	स्वप्न० ५८	,,
स्वयमेव महाराजेन **दत्ता** (कन्या)।	स्वप्न० ६०	,,
अनग्निसाक्षिकं वीणाव्यपदेशेन **दत्ता**।	स्वप्न० १५४	,,

उपर्युक्त सभी प्रसंगों से ज्ञात होता है कि यहाँ 'दत्ता' वाग्योग से तात्पर्य, कन्या को विवाह के लिए देना ही है।

यह वाग्योग, उसी प्राचीन परम्परा और मान्यता को सूचित करता है, जिसके कारण कन्या को पराया धन (अर्थो हि कन्या परकीय एव—कालिदास) कहा जाता है। वाग्दान, कन्यादान आदि शब्द, भाषा को उसी सामाजिक परम्परा की देन हैं।

विनोदयति

भास के समय तक 'विनोदयति' का प्रयोग वाग्योग के रूप में नहीं होता था। भास ने वाच्यार्थ में ही यह प्रयोग किया है। यथा :—

मुहूर्तकं निर्वेदं विनोदयामि।	अविमा० २७	उदासी दूर करना

यावदिदानी···**दुःखं विनोदयामि ।**	स्वप्न० ६२	दुःख दूर करना
शय्यायां मम **दुःखं विनोदयामि ।**	स्वप्न० ६९	"
शीर्षवेदनां विनोदयामि ।	स्वप्न० १०८	शीर्षवेदना दूर करना ।

इन सभी उदाहरणों में भास ने वाच्यार्थ में ही 'विनोदयति' का प्रयोग किया है। (वि + नुद् + घञ् = विनोद अर्थात् हटाना, दूर करना नामधातु = विनोदयति)

किन्तु, आगे चलकर शूद्रक ने 'मृच्छकटिकम्' में विनोदयति का प्रयोग वाच्यार्थ में नहीं, अपितु तात्पर्यार्थ में, वाग्योग के रूप में ही क्रिया है। यथा :—

तद्यावद् **विनोदयाम्येनाम् ।**	मृच्छकटिकम् ११७.
आत्मानं विनोदयामि ।	" १७८.

उपर्युक्त दोनों ही उदाहरणों में 'विनोदयति' से तात्पर्य मनोरञ्जन करने से है न कि दूर करने से। क्योंकि, कम से कम अपने को तो कोई अपने से दूर नहीं कर सकता (**आत्मानं विनोदयामि**)।

यह प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार वाच्यार्थ ही तात्पयार्थ हो जाता है अर्थात् किस प्रकार सामान्य प्रयोग ही 'वाग्योग' बन जाता है।

वस्तुतः, भाषा में यह प्रक्रिया चलती रहती है, कभी वाग्योग, सामान्य प्रयोग बनकर वाच्यार्थ की भाँति प्रयुक्त होने लगता है; यथा कुशल, प्रवीण आदि, एवं कभी वाच्यार्थ, विलक्षण प्रयोग बनकर तात्पर्यार्थ में प्रयुक्त होने लगता है और वाग्योग बन जाता है।

धारयति

'धारयति' का वाच्यार्थ है—धारण करना। प्राणान् धारयति, दण्डं धारयति आदि में यही है।

किन्तु, भास ने 'धारयति' का भी वाग्योगात्मक प्रयोग किया है। यथा :—

भो दुर्योधन ! मुहूर्तं तावदात्मा **धार्यताम् ।**	उरुभ० २६
भो दुर्योधन ! मुहूर्तं तावदात्मा धार्यताम् ।	उरुभ० २९
किं **रोषो धारितस्तदा ।**	पञ्चरा० ३१
न शक्नोमि **रोषं धारयितुम् ।**	अभिषे० ३५
न शक्नोमि **रोषं धारयितुम् ।**	प्रतिमा० ३६

उपर्युक्त सभी स्थलों पर 'धारयति' का प्रयोग 'रोकना' अथ में हुआ है। किसी भी धातु का वाच्यार्थ केवल एक ही होता है, उससे भिन्न अन्य कोई भी अर्थ लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ ही हो सकता है। इसी कारण 'रोकना' अर्थ में उपर्युक्त प्रयोग वाग्योगात्मक ही हैं।

अर्थ के साथ ही भास की ही रचनाओं में, वाक्य के रूप में ही बार-बार प्रयुक्त होना भी 'वाग्योग' होने का ही समर्थन करता है।

चक्षुर्भूः

अर्थात् जो चक्षु तो नहीं है, किन्तु वह चक्षु बन गया है। यथा :—

विपन्नचक्षुषो महर्षेश्**चक्षुर्भूतो मुनितनयो**

हिंसितः। प्रतिमा० १६५

तात्पर्य है कि **जिस महर्षि की आँखे नहीं है, उनके लिए आँख का काम करने वाला 'मुनितनय'** मारा गया।

स्पष्ट ही यह अर्थ वाच्यार्थ नहीं है, तात्पर्यार्थ ही है। इस प्रकार ऐसे सभी प्रयोग 'वाग्योग' ही माने जाने चाहिएँ।

भास की रचनाओं से ही कुछ अन्य उद्धरण इस प्रकार है। यथा :—

एष **दक्षिणापथपरिघभूतो** भूरिश्रवा नाम। पञ्चरा० २३
वहसि हि धनहार्यं **पण्यभूतं शरीरम्**। चारुद० २८
हृदयेनेह तत्राङ्गै**र्द्विधाभूतमेव** गच्छति। बालच० ११
अपि दृष्टं **द्विधाभूतमरुन्धतीचारित्रम्**। प्रतिमा० १५५
द्विधाविभक्तं खलु मे **शरीरम्**। अविमा० ११४

यहाँ, अन्तिम उदाहरण में 'भूतम्' के स्थान पर विभक्तम् का प्रयोग भिन्न होने पर भी, तात्पर्यार्थ एवं रूपरचना की दृष्टि से भिन्न नहीं है। कोई भी एक व्यक्ति वाग्योगात्मक रूप में ही दो हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रहर्षितानि तनूरुहाणि

हर्षित होना, जीवधारियों का और विशेषतः मनुष्य का धर्म है। जड़ 'तनूरुहो' को हर्षित बतलाना वाग्योगात्मक ही है। तात्पर्य है—'रोंगटे खड़े होना।'

भास ने अधोलिखित वाक्य में इस वाग्योग का प्रयोग किया है :—

इमानि **प्रहर्षितानि तनूरुहाणि मन्त्रयन्ते**। प्रतिमा० १३,१४

यहाँ, पहले तो 'रोंगटों का खड़ा होना' और तत्पश्चात् 'खड़े हुए रोंगटे के द्वारा (कुछ) कहा जाना—' यह सम्पूर्ण शैली ही वाग्योगात्मक है।

:—०:—

उपसंहार

उपसंहार

'संस्कृत-वाग्योगों का विवेचनात्मक अध्ययन' शीर्षक प्रस्तुत प्रबन्ध में, सर्वप्रथम, यह प्रतिपादित किया गया है कि अन्य विकसित एवं सम्पन्न भाषाओं की भाँति ही संस्कृत में भी वाग्योग हैं। दूसरी भाषाओं में जिन प्रयोगों को 'मुहावरा' या 'ईडियम' कहा जाता है, वैसे ही प्रयोग संस्कृत में भी उपलब्ध होते हैं, और उनकी संख्या भी पर्याप्त है; वैसे प्रयोगों को हमने 'वाग्योग की संज्ञा दी है। 'मुहावरा' के स्थान पर 'वाग्योग' शब्द को स्वीकार करने में हमने भारतीय चिन्तन की वाक् केन्द्रित परम्परा के साथ ही सस्कृत की प्रकृति को ध्यान में रक्खा है।

'मुहावरा' को वाग्योग नाम देने के साथ ही हमने 'वाग्योग' के लक्षण पर भी विचार किया है। हिन्दी आदि भाषाओं में इस विषय पर हुए काय को ध्यान में रखते हुए और उसे आगे बढ़ाते हुए वाग्योग का मौलिक लक्षण यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

वाग्योग के लक्षण के साथ ही, सूक्ति और लोकोक्ति से वाग्योग के अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात्, भाषा में वाग्योगों का महत्त्व स्पष्ट करते हुए व्यक्तित्व, समाज सस्कृति एवं इतिहास के अध्ययन के लिये उनके उपयोगी होने के साथ ही उन्हें संस्कृत भाषा के शिक्षण के लिए भी परम उपयोगी माना गया है। संस्कृत के वाग्योगों का योगदान इन क्षेत्रों में सर्वाधिक हो सकता है।

प्रथम अध्याय में ही, वैदिक साहित्य और संस्कृत-साहित्य में वाग्योगों के उपलब्ध होने का भी संकेत सोदाहरण किया गया है। तत्पश्चात्, प्रबन्ध के प्रमुख विषय–भास के नाटकों में संस्कृत-वाग्योगों की बहुलता को प्रदर्शित करते हुए, पाठकों को आश्वस्त किया गया है कि अन्य भाषाओं की भाँति ही संस्कृत में वाग्योगों की संख्या बहुत अधिक है।

प्रबन्ध में, द्वितीय अध्याय से लेकर षष्ठ अध्याय तक वाग्योगों का विवेचन हुआ है। यहाँ पहले भास की रचनाओं से वाग्योगों का संकलन किया गया है और तत्पश्चात् उनका वर्गीकरण करके उन्हें विभिन्न अध्यायों में रक्खा गया है। वर्गीकरण के लिए वाग्योगों के उद्भव को, वाग्योगों के अर्थ को, और उनकी रूप-रचना को आधार बनाया गया है। उदाहरण के लिए, द्वितीय अध्याय में शरीर के विभिन्न अङ्गों के आधार पर बने हुए वाग्योगों को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ सर्वप्रथम नेत्र-

सम्बन्धी वाग्योगों का विवेचन किया गया है, क्योंकि प्रत्येक भाषा में और संस्कृत में भी नेत्र-सम्बन्धी वाग्योगों की संख्या शरीर के अन्य अङ्गों के वाग्योगों की अपेक्षा अधिक है। नेत्र के पश्चात् हृदय, मन, बुद्धि, शिर, मुख, जिह्वा, ओष्ठ, कण्ठ और हाथ आदि अन्य अङ्गों से सम्बन्धित वाग्योगों का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में, क्रियापदों से सम्बन्धित वाग्योगों का विवेचन है। शरीराङ्गों से सम्बन्धित वाग्योगों के बाद, क्रियाओं से सम्बन्धित वाग्योगों की संख्या भी प्रत्येक भाषा में पर्याप्त होती है। साथ ही, इस कोटि के वाग्योगों का महत्त्व भी बहुत अधिक है। यहाँ पहले, गत्यर्थक धातुओं–गम्, व्रज, या और इण् आदि से बने हुए वाग्योगों को और तत्पश्चात् दह, हन्, गण आदि धातुओं से बने वाग्योगों का विवेचन हुआ है। तदुपरान्त, अन्य ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न धातुओं अथवा क्रियापदों का प्रयोग, वाग्योग के रूप में हुआ है।

भास के नाटकों की कथावस्तु में युद्ध का प्राधान्य है। अतः, विषय के आधार पर वाग्योगों का वर्गीकरण करते हुए, पहले युद्ध-सम्बन्धी वाग्योगों का विवेचन किया गया है। यहीं पर मृत्यु, जीवन-मरण, से सम्बन्धित वाग्योगों को भी रक्खा गया है। सुविधा के लिए सौन्दर्य एवं प्रेम, भाग्य तथा भौतिक पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले वाग्योगों का विवेचन भी यहीं किया गया है।

पञ्चम अध्याय में रक्खे गये वाग्योगों में से कुछ तो ऐसे हैं, जिनका प्रयोग पारस्परिक व्यवहार में औपचारिकता के निर्वाह के लिए होता है; यथा—सुखमार्यस्य, और कुछ ऐसे हैं जिनका उपयोग सेवक आदि को प्रताड़ित करने के लिए किया जाता है; यथा—दास्याः पुत्रः, हताशः आदि। कुछ वाग्योगों का उपयोग निन्दनीय व्यवहार के प्रसङ्ग में भी किया जाता है।

इसके साथ ही, इस अध्याय में वे वाग्योग भी रक्खे गये हैं, जिनका सम्बन्ध उपमानों से है। सादृश्यमूलक अलङ्कारों में कुछ ऐसे उपमान हैं, जो अन्य उपमानों की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार बहुप्रयुक्त होने के कारण ही हमने उन्हें उपमानात्मक वाग्योग कहा है। संस्कृत-व्याकरण में 'च्वि' प्रत्यय वाले शब्दों का प्रयोग भी, वाग्योगों के रूप में ही होता है। केवल 'च्वि' प्रत्यय के कारण 'जो जैसा नहीं है, उसे वैसा कह दिया जाता है; यह विशेषता वाग्योगात्मक ही है। यथा—'भस्मी करोति' से तात्पर्य है, जो भस्म नहीं है उसको भस्म करता है। प्रत्यय के कारण होने वाली यह विलक्षणता ही च्व्यन्त शब्दों को वाग्योग बनाती है।

इसी प्रकार 'किम्' शब्द से बनने वाले भी अनेक वाग्योग हैं। यथा—का

गति, का कथा, का शक्तिः आदि। इन सबको हमने किमात्मक वाग्योग कहा है; क्योंकि इनकी लाक्षणिकता का आधार 'किम्' शब्द ही है। यहीं पर विभिन्न कथाओं के आधार पर बने हुए भी कुछ वाग्योग रक्खे गये हैं। यथा—हनूमत्त्वं गता स्पृहा, क्रौञ्चत्वं गमिष्यति।

षष्ठ अध्याय में रूप रचना की दृष्टि से वाग्योगों का वर्गीकरण हुआ है। सर्वप्रथम, पदात्मक अर्थात् एक पद वाले वाग्योग हैं, यथा—फलम्, पात्रम् आदि। इसके बाद पदसमूहात्मक वाग्योग हैं। इन्हीं में कुछ वाग्योग समास वाले भी हैं। अन्त में, वाक्यात्मक वाग्योग हैं; यथा—'एतावान् मे विभवः' आदि।

इस प्रकार सम्पूर्ण प्रबन्ध मे यह प्रयास किया गया है कि संस्कृत में वाग्योग-विषयक शोधकार्य की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट हो सके। इस विषय का प्रारम्भिक कार्य होने के कारण, प्रस्तुत प्रबन्ध से यदि इस दिशा का निर्देश मात्र भी हो सका तो लेखक का परिश्रम सफल हो जायगा।

—:०:—

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

मूलग्रन्थ : भास के नाटक

अभिषेकनाटकम्	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९७६
अविमारकम्	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९७६
उरुभङ्गम्	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६८
कर्णभारम्	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९७६
चारुदत्तम्	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९७६
दूतघटोत्कचम्	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६९
दूतवाक्यम्	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६७
पञ्चरात्रम्	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९७६
प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६५
प्रतिमानाटकम्	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, सन् १९७६
बालचरितम्	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९७२
मध्यमव्यायोगः	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६८
स्वप्नवासवदत्तम्	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९७६

सहायक ग्रन्थ

अच्छी हिन्दी	रामचन्द्र वर्मा बनारस, सं० २००२
अथर्ववेद	विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर, सन् १९६०
अष्टाध्यायी	पाणिनि, गुरुकुल वृन्दावन (मथुरा) सं० १९९६
उर्दू-हिन्दी शब्दकोश	मुहम्मद मुस्तफा खाँ, 'मद्दाह', सूचनाविभाग, उत्तर प्रदेश, सन् १९५९
ऋग्वेद संहिता	वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, सन् १९३३–४६
काव्यप्रकाशः	मम्मट, साहित्य-भण्डार, मेरठ, सन् १९६७
ग़यासुल्लुग़ात	सिराजुद्दीन अलीखाँ आरज़ू, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, पहला संस्करण ।
गीत-गोविन्दम्	जयदेव, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सन् १९८३
छान्दोग्योपनिषद्	कल्याण उपनिषद-अंक, गीताप्रेस, गोरखपुर, सन् १९४९

पञ्चतन्त्रम् — विष्णुशर्मा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९०२

प्रौढ-रचनानुवादकौमुदी — कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९७३

फरहंग आसफिया — सय्यद अहमद देहलवी, देहली, सन् १८९८

बृहद् अनुवाद-चन्द्रिका — चक्रधर नौटियाल हंस, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९६६

बृहत् हिन्दी-कोश — ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, सं० २०१३

बोलचाल — अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, सन् १९२८

मनुस्मृतिः — निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९५४

महाभाष्यम् — पतञ्जलि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, सन् १९५४

महाभारत — श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, (जिला बलसाड) सन् १९८०

मुकद्दमा-ए-शेर-ओ-शायरी (हिन्दी अनुवाद), अल्ताफ़ हुसैन हाली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, सन् १९६७

मुहावरा-मीमांसा — ओमप्रकाश गुप्त, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, १९६०

मृच्छकटिकम् — आर० डी० करमरकर, पूना, सन् १९३७

योगसूत्रम् — पतञ्जलि, चौखम्बा, वाराणसी।

वाग्व्यवहारादर्शः — चारुदेवशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९७६

वैदिककोश — सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू युनीवर्सिटी, सन् १९६३

व्याकरणचन्द्रोदय, प्रथमखण्ड, — चारुदेवशास्त्री, मोतीलाल, बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९६३

शब्दापशब्दविवेकः — चारुदेवशास्त्री, भारतीय संस्कृत भवन, जालन्धर, सं० २०११

शैलीविज्ञान — भोलानाथ तिवारी, शब्दकार, तुर्कमानगेट, दिल्ली सन् १९७७

श्रीमद्भगवद्गीता — गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१५

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण — गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०३३

संस्कृत शब्दों में अर्थ-परिवर्तन — केशवराम पाल, प्राची प्रकाशन, मेरठ, सन् १९६४

संस्कृत-हिन्दी-कोश — वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९६६

हलायुधकोश: हिन्दी-समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, सन् १९६७
हिन्दी मुहावरा कोश भोलानाथ तिवारी, इलाहाबाद, सन् १९५१
हिन्दी मुहावरा-कोश आर० जे० सरहन्दी इलाहाबाद, सन् १९४२
हिन्दी-मुहावरे रामदहिन मिश्र, बांकीपुर, ग्रन्थमाला, कार्यालय प्रथम संस्करण, सन् १९५१
हिन्दी-मुहाविरे ब्रह्मस्वरूप शर्मा 'दिनकर' बनारस, सन् १९५१
हिन्दी-विश्वकोश (देखें, मुहावरा) काशी नगरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
हिन्दी शब्दसागर श्यामसुन्दरदास, काशी, प्रथम संस्करण
हिन्दुस्तानी कहावत-कोश नेशनल बुकट्रस्ट, इण्डिया, नई दिल्ली, सन् १९६८
हिन्दू सभ्यता राधाकुमुद मुकर्जी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९५८

Apte, Vaman Shivram. The Student's Sanskrit–English Dictionary. Delhi : Motilal Banarsidas, 1976.
Bahri, Hardev, Bharati Press Publications, Allahabad, 1959
Chase, S. The Tyranny of Words, London, 1938.
Collins, V.H. A Book of English Idioms, London : Longman's Green and Co., 1956.
Encyclopedia Britannica, Vol. 12. London & New York.
Farrar, F.W. An Essay on the Origin of Language, London, 1860.
Fowler, H. W. Dictionary of Modern English Usages, London : Oxford Universitr Press, 1969.
Gray, L. M. Foundation of Language. New York, 1939.
James Main Diction, English Idioms, London : Thomas Nelson & Sons Ltd., 1954.
Jesperson, Otto. Language : Its Nature, Development & Origin, London & New York, 1934.
Marsh, G. P. Lectures on English Language, London, 1862
Mcmordie, W. English Idioms, London : Oxford University Press, 1954·
Monier, Williams M. Sanskrit-English Dictionary. Oxford, 1899.
New English Dictionary, Oxford, 1888–1928.
Partridge, Eric. Words, Words, Words. London, 1933.

Richardson, New English Dictionary. Vol. 1

Roget, P. Mark. Thesaurus of English Words and Phrases. London, 1883.

Smith, L.P. English Idioms. Oxford, S. P. E. Tract XII

Webster's New International Dictionary, 1928.

ARTICLES

Grammatical Idioms in Sanskrit, Mahashabde, M.V. Summary of Papers, 17th. AIOC, Ahamadabad 1952.

Some Idioms in the Naishadhiya–Charita, Dr. Karunasindhu Das, Summary of Papers, Part II, 30th AIOC, Shantineketan, 1980.

—:o:—

वाग्योग
मुहावरा
वाग्योग
वाग्योग
मुहावरा
वाग्योग
मुहावरा
IDIOM
वाग्योग
IDIOM
मुहावरा
वाग्योग
IDIOM
मुहावरा